शब्द और रेखाएँ

शब्द और रेखाएँ

सामयिक प्रकाशन
3543, जटवाडा, दरियागज, नई दिल्ली-110002

शब्द और रेखाएं

विष्णु प्रभाकर

स्वर्गीय बाबू गगाशरण सिह
को
पुण्य स्मृति को
जिनसे मैंने
न जाने कितने सस्मरण
सुने हैं

दो शब्द

शब्द और रखाएँ' अपन समकालीन सजका राष्ट्रनेताओ, परिजनो और साधारण व्यक्तियो क सम्बन्ध म समय समय पर लिख गये मर सस्मरणो का दसवाँ सग्रह है । इनम स तीन अप्राप्य हैं । लेकिन उनम सकलित प्राय सभी मस्मरण नये सग्रहो म आ गय हैं । एक और सग्रह शीघ्र ही आने वाला है ।

सस्मरण लिखना दुश्कर काय है । सम्पक म आने वाले प्रत्यक व्यक्ति के प्रति हमारी जो धारणा बनती है या वे जो प्रभाव हम पर छाडत हैं उस वैसे का वैसा लिखन का साहस हमारे देश मे प्राय नही है । व्यक्ति का अध्ययन दोनो पक्षो को लेकर ही हा सकता है । लेकिन अपन को दूसरे की दृष्टि से देखने की प्रवृत्ति हममे नही है । इसीलिए ये सस्मरण प्राय एकागी होकर रह जाते हैं ।

अतिरिक्त दोप दशन या अतिरिक्त प्रशसा भी व्यक्ति की पहचान नही है । एक और भी कठिनाई है । अधिकतर सस्मरण उस व्यक्ति की मत्यु के बाद स्मति ग्रथ के लिए लिखे जात हैं । उनमे निष्पक्ष अध्ययन की सम्भावना की आशा करना व्यथ है ।

इसलिए हमारे देश म व्यक्ति का सही सही अध्ययन कम ही हुआ है । मैं स्वय अपने को भी इस दोप स मुक्त नही कर सकता । फिर भी प्रस्तुत सग्रह मे जिन व्यक्तियो के बारे मे मैंन लिखा है उनकी सीमाओ को भी रेखाकित करने की चेष्टा मैंने की है । उसके बिना उस व्यक्ति की पह चान अधूरी ही रह सकती है ।

सकलन म जिन बारह व्यक्तियो को मैंन लिया है उनमे स सौभाग्य से दो अभी हमारे बीच मे हैं । सवश्री द्विजेंद्रनाथ मिश्र निर्गुण' और प्रभाकर माचवे । इस सम्भावना से इकार नही किया जा सकता कि आगे चल कर इन मित्रो क सम्बन्ध म मरी धारणा बदल जाये । फिर भी मुझे यह कहने मे सकोच नहीं है कि मैं अतिरिक्त प्रशसा करने मे विश्वास नहीं रखता । जितना मैं उनको जान सका उसी के आधार पर मैंने उनका अध्य यन प्रस्तुत किया है । उनकी रचना के पीछे उनका जो व्यक्तित्व रहा है

उसी को खोज लेने की चेष्टा मैंने की है। कितना सफल या कितना असफल हुआ इसको खतिया कर देखने का अधिकार मेरा नहीं है। मेरे पाठक और समीक्षक ही इसकी जाँच पड़ताल कर सकते हैं।

संकलन में आये बारह व्यक्तियों में नौ मूलतः सर्जक हैं। शेष तीन में पंडित बनारसीदास चतुर्वेदी अपने युग के प्रखर साहित्यिक पत्रकार रहे हैं। श्रद्धेय किशोरीदास वाजपेयी तो वर्तमान युग के पाणिनी माने जाते हैं। बाबू गंगाशरण सिंह ने प्रसिद्ध समाजवादी नेता होते हुए भी सम्पर्क भाषा हिन्दी के प्रचार और प्रसार में सारा जीवन होम कर दिया। उन्होंने जो अनथक प्रयत्न किया है उसकी थाह लेना असंभव जैसा है।

शेष सभी हमारे जाने माने प्रसिद्ध सर्जक हैं। किसी भी देश का साहित्य उन पर गर्व कर सकता है।

इन सभी गुरुजनों और मित्रों का स्नेह और सान्निध्य पाने का सौभाग्य मुझे मिला है। कुछ को तो मैंने बहुत पास से देखा है। कुछ के साथ वैसा सम्भव नहीं हो पाया। वह अन्तर इन संस्मरणों में निश्चय ही मिलेगा। पर वह मेरा अपराध नहीं मेरी सीमा है। लेकिन इसी कारण उनका जो प्रभाव मुझ पर पड़ा उसमें मैंने गहरे पठने की कोशिश की है।

इससे अधिक कहने का अधिकार मुझे नहीं है। मेरे समीक्षकों और विशेष रूप से मेरे पाठकों को है। वे ही तो मेरे सामने दर्पण रखते हैं और दर्पण कभी झूठ नहीं बोलता।

अन्त में मैं उन सभी मित्रों का आभारी हूँ जिनके कारण मैं ये संस्मरण लिख सका। मैं सामयिक प्रकाशन का भी आभारी हूँ जिसने मेरे इन संस्मरणों को प्रकाशित करने का बीड़ा उठाया। बस इतना ही मुझे कहना है।

818, कुण्डेवालान
अजमेरी गेट
दिल्ली 110006

—विष्णु प्रभाकर

क्रम

आचार्य किशोरीदास वाजपेयी

सन 1938 के अक्तूबर मास की बात है। कनखल के बाजार से गुजर रहा था कि दृष्टि ताँगे म अकेले बैठे एक प्रौढ़ सज्जन पर जाकर ठहर गई। वह कुछ उत्तेजित थे और किसी विरोध प्रदर्शन को लेकर विज्ञप्तियाँ बाँट रह थे। विशुद्ध भारतीय वेशभूषा कठोर दृष्टि और रोब प्रकट करती मूछें। मेरे साथी ने बताया "दखो यह हैं प० किशोरीदास वाजपयी।'

'उन्ही की चर्चा तो मैं कर रहा था," गद्गद होकर मैं बोला "मैं इनस मिलूगा।"

'मिल लेना, दुर्वासा के अवतार हैं। हमेशा युद्ध छेडे रहते हैं।"

तब से लेकर आज तक उनके बारे म यही कुछ सुनता आ रहा हूँ। रुद्र रूप, परशुराम और दुर्वासा के अवतार, चुनौतियाँ देते हैं और ध्वस करते हैं।

लेकिन रुद्र दुर्वासा परशुराम ये सब ही तो शकर से जुडे हैं और शकर शिव भी हैं, औघडदानी, भोले भण्डारी भी। वे ताण्डव नृत्य करते हैं तो मुक्तमन स वर भी देत हैं। जो अकल्याणकर है उसका नाश करत हैं। जो कल्याणकर है उसका निर्माण करत हैं। डा० राममनोहर लोहिया से एक बार मैंने पूछा था, 'आप मात्र ध्वस की बात करत रहत है। निर्माण के बारे मे नही सोचत ?"

एक क्षण मौन रह कर तीव्र स्वर मे उन्होन कहा था, "पहले ध्वस कर लू, तभी तो निर्माण होगा।"

हर निर्माण से पहले ध्वस अनिवाय है। ध्वस और निर्माण एक ही प्रक्रिया के दो रूप हैं।

वाजपेयी जी के जीवन का सम्यक अध्ययन करने पर पता लगता कि उनकी मूल प्रवत्ति म निर्माण की ही कामना निहित है।

प्रथम विश्व हिन्दी सम्मेलन' क अवसर पर किसी प्रसग म जब डॉ० विजये द्र स्नातक ने घोपणा की कि हिन्दी वतनी की समस्या लगभग सुलझ गई है तो दशकों की अग्रिम पक्ति म बैठे वाजपेयी जी तीव्र प्रतिवाद करते हुए उठ खडे हुए बोल 'लगभग नही, मैंन उसे पूरी तरह सुलझा दिया है।'

डा० स्नातक ने बडे आदर के साथ अपनी बात समझानी चाही कि पूर्ण तो कुछ नही है, पर वाजपेयी जी अडिग थ और अपनी बात कहते कहते वे मडप से बाहर चले गए। इस घटना को सम्मलन क विरोधियो ने बहुत उछाला। वाजपेयी जी यदि ध्वस मे विश्वास करन वाले होत तो इस बात से बडे प्रस न होते पर तु उ होने इस बात का प्रबल विरोध करत हुए सम्मेलन को अभूतपूव सफल घोषित किया। बोल मैं तो निजी कारणवश बाहर गया था। लौटा तो दूर से देखा कि मेरी कुर्सी पर वात्स्यायन जी बैठे हैं। मैं पीछे चला गया, बस।"

वाजपेयी जी का प्रारम्भिक जीवन त्रासदायक घटनाओ से जूझते बीता था। बहुत कच्ची आयु मे माँ तथा अ य प्रियजनो का विछोह सहना पडा था उ हे। फिर क्या नही किया उन्होने। भैंसें चराइ, चाट बेची, मिल म मजदूरी की पर सरस्वती म दिर की पुकार अनसुनी न कर सके। उनका कायक्षेत्र अनेक करुण कहानियो से आप्लावित है तथा अनक नगरों को अपन म समेटे हुए है। गोवि द स किशोरीदास बनने तक की कहानी सघष का अदभुत दस्तावेज है। अन्त मे आकर उनकी जीवन नया कन खल की गगा के किनारे आकर लगी।

कनखल साधारण नगरी थोड़े है। यही पर तो शिव ने अपनी प्रिया सती क आत्मदाह से क्रुद्ध होकर प्रजापति दक्ष और उनक यज्ञ का ध्वस किया था। वाजपेयी जी भी हिन्दी म फली अराजकता को भाषा और साहित्य का अपमान समझत थे, इसीलिए उसके प्रतिकार म निर तर

खड्गहस्त रहे। लेकिन उनका खड्ग मात्र वाणी या शब्द के माध्यम से नहीं कम और नव निर्माण के द्वारा ध्वंस करता रहा है। पुरानी स्थापनाओं को हटाकर उन्होंने तर्कसम्मत नयी स्थापनाएँ करने की चेष्टा की है। इसलिए कनखल, अब मात्र दक्षघाट के कारण ही नहीं स्मरण किया जाएगा, आचार्य वाजपेयी के कारण भी उसका महत्त्व आँका जाएगा। आधुनिक युग के इस पाणिनि को लोग कनखल की विभूति के रूप में सदा याद रखेंगे।

कनखल मेरी ससुराल है। मेरी पत्नी के भाइयों के व गुरु रहे हैं। और गुरु भी ऐसे जो अपने डण्डे में विद्या का निवास मानते हैं, लेकिन मेरे लिए कनखल का वही महत्त्व है जो शिव के लिए हिमालय का और विष्णु के लिए सागर का। इसलिए भी वाजपेयी जी मेरे लिए आदरणीय हैं। दिल्ली म एक बार मैंने उनसे निवेदन किया था, "वाजपेयी जी! मेरे घर चरणधूली नहीं डालेंगे?"

मुस्कराकर उन्होंने उत्तर दिया था, "प्रभाकर जी आपके घर चलने का अर्थ है पर आऊँगा किसी दिन।"

उनके अनेक राजनीति और धर्म सम्बन्धी मतव्यों से मेरा गहरा मत भेद रहा है, झुंझलाया भी हूँ पर उनके अगाध ज्ञान के प्रति मैं नत-मस्तक रहा हूँ और आज भी हूँ, पर ज्ञान भी अपने-आप में सब कुछ नहीं है। ज्ञान बढ़ जाता है तो बुद्धि ठहर जाती है। वास्तव म मैं उनकी कर्मठता, लगन और साधना के प्रति श्रद्धानत हूँ। वह पाणिनि हो या न हो, तपस्वी और निर्भीक साधक निश्चय ही थे।

ब्राह्मण सावधान' का उत्तर हो या 'अच्छी हिन्दी का, या शब्दानुशासन या रस और अलंकार का हो, वह अपनी बात बिना किसी छलछन्द के, पर शालीन और तर्कसम्मत भाषा म कहते थे। कूटनीति से वह बहुत दूर थे। वह निखूट सत्य बोलने म विश्वास करते थे, भले ही वह अप्रिय हो। वह उनकी असमर्थता हो सकती है, अपराध नहीं।

काश, वे कड़वी कुनैन पर चीनी की चाशनी चढ़ाना जानते। पर तब वे आचार्य किशोरीदास वाजपेयी न रहते। हरेक का अपना व्यक्तित्व होता है। उसी से उसकी पहचान होती है। भीड़ म कौन किसको जानता

है। आना उसी को जाता है जो लीक से हटकर चलने का साहस करता है।

वाजपेयी जी कठोर थे, पर जो कठोर है उसके अन्तर में कोमलता वैसे ही समाई रहती है जैसे प्रस्तर में पयस्विनी। जो कोमल नहीं है वह विनोदप्रिय हो ही नहीं सकता। श्रद्धेय पुरुषोत्तमदास टण्डन के सम्मान के लिए राष्ट्रपति डॉ० राजेन्द्रप्रसाद स्वयं प्रयाग गए थे। तभी की एक घटना मैं कभी नहीं भूल सकता। साहित्यकारों की एक अनौपचारिक सभा में हास्य विनोद का वातावरण चरम सीमा पर था। मूछों को लेकर सभी रोचक संस्मरण सुना रहे थे कि वाजपेयी जी बोल उठे, "भाइयो, एक बार मैंने भी आजकल के छोकरों की तरह मूछें मुंडवा दी थी।"

चकित विस्मित एक बन्धु ने पूछा, "आपने मूँछें मुँडवा दी, सच ?"

दूसरे साहित्यकार बोले, 'फिर हुआ क्या ?"

वाजपेयी जी ने उत्तर दिया, "होता क्या, पत्नी ने घर में ही नहीं घुसने दिया। बोली, मरद की पहचान मूँछें ही तो होती हैं।"

'फिर ?'

हँसी के ठहाकों के बीच वाजपेयी जी बोले, "फिर क्या देख ही रहे हो, मूछें लौट आई हैं।'

पता नहीं यह रसिकता दुर्वासा या परशुराम में थी या नहीं पर शंकर महाराज में भरपूर थी, इसीलिए वाजपेयी जी की सही पहचान दुर्वासा और परशुराम के माध्यम से नहीं, दक्ष-संहर्ता शंकर के माध्यम से ही हो सकती है। यूं डा० सीताराम चतुर्वेदी ने मूछ रखने का एक रहस्य यह भी बताया है कि जब दूध पीते हैं तो सारी मलाई छन कर निखालिस दूध पेट में जाता है।

उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान ने जब दस हजार रुपये की राशि देकर उनका सम्मान किया तो वे उस लेने मंच पर नहीं गए। स्वयं प्रधान मन्त्री ने नीचे आकर उनको सम्मानित किया। इस घटना को लेकर बहुत ऊहा-पोह मचा था उन दिनों। लेकिन मैं समझता हूं उनका यह प्रतिरोध सही था। सम्मान लिया नहीं जाता, दिया जाता है। आधुनिक युग का पाणिनि व्याकरण की इस भूल को कैसे नजरअन्दाज कर सकता था।

लेकिन भारतीय भापा विधान के रचयिता वाजपेयी जी भाषा विज्ञान के क्षेत्र में ही शुद्धता के पक्षपाती नहीं रहे, देश भक्ति के क्षेत्र में भी वे वैसे ही सक्रिय रहे हैं। परंतु यश-कातर देश-भक्त के रूप में बहुत कम लोग उन्हें पहचानते हैं। वे कारागार में रहे। उनकी पुस्तक जब्त हुई। चुनाव भी लड़ा उन्होंने पर धन के अभाव में जो हो सकता था वही हुआ। अपने स्वभाव के अनुरूप उस क्षेत्र में भी वह उग्र पन्थियों के साथ रहे। उनके अन्तर में धधकती अग्नि उन्हें सदा अन्याय का प्रतिकार करने को उकसाती रही। अनेक बिन्दुओं पर उनसे तीव्र मतभेद हो सकता है पर यह निश्चित है कि ऐसा व्यक्ति न तो चाटुकारिता का शिकार हो सकता है न किसी प्रलोभन का। वह होता है बस सतत निःस्पृह और निर्भीक योद्धा। ऐसे योद्धा की ओजस्वी वाणी ही भविष्य के पथ को आलोकित करती है।

उनके अभिनन्दन में एक ग्रन्थ का सम्पादन किया था कनखल व गुरुकुल कांगड़ी के मनीषियों ने। उनका यह भी आग्रह था कि वह ग्रन्थ दिल्ली में राष्ट्रपति या उपराष्ट्रपति के द्वारा उन्हें भेंट किया जाए लेकिन अन्ततः यह विचार छोड़ देना पड़ा। स्वयं उन्होंने मुझे एक पत्र में लिखा, "अब ग्रन्थ विमोचन यानी ग्रन्थ समर्पण की बात छोड़ दी है ग्रन्थ तो मुझे आप लोगों ने—इसके लेखकों ने—दिया है तब समर्पण विमोचन किसी अन्य से क्या कराना। "

लेकिन जब मैंने उस ग्रन्थ की समीक्षा आकाशवाणी से की और उसकी प्रति उन्हें भेजी तो उन्होंने मुझे जो पत्र लिखा वह उनके निश्छल और निर्मल हृदय का साक्षी है। प्यार की कैसी ललक थी उनके अन्तरतम में!

कनखल (उ० प्र०)
28 अप्रैल, 1979

प्रिय प्रभाकर जी,

पत्र मिला और आलोचना की प्रति भी। मेरा प्रचार राहुल जी तथा

डॉ० रामविलास शर्मा ने किया और आप भी उसी वर्ग में हैं। पहले सूचना मिलती तो सुन भी लेता। चलो, नाम ग्रन्थ था सामने तो आया और सबसे पहले आया। बहुत-बहुत आशीर्वाद।

शुभैषी,

कि० दा० वाजपेयी

ऐसे सरल प्राण निर्भीक योद्धा को मेरे अजस्र प्रणाम।

डा० कृष्णदेव प्रसाद गौड 'बेढब'

यह सयाग की बात है कि काशी के मास्टर से मेरा प्रत्यक्ष परिचय पहली बार आकाशवाणी के दिल्ली केन्द्र पर हुआ था और अतिम बार भी उनसे मेरी भेंट आकाशवाणी के ही एक केन्द्र इलाहाबाद मे हुई। दोनो बार वे एक कविसम्मेलन म भाग लेने आए थे। पहली बार दिल्ली केंद्र के स्टूडियो न० 1 म सुशिक्षित जनसमूह के बीच बैठकर मैंने उनकी वह कविता सुनी थी जिसक कारण वे काफी लोकप्रिय हुए। जब कभी मैं अपने सिर पर हाथ फेरता हूँ और पाता हूँ कि वहाँ का उपजाऊ प्रदेश ऊसर मे परिवर्तित हो गया है या किसी अन्य सज्जन की चमकती हुई चांद देखता हूँ तो मुझे सहसा बेढब जी की 'गजी खोपडी' की व पक्तियाँ याद आ जाती हैं—

> इस तरह है यह चमकती खोपडी
> देख सकते आप अपना रूप हैं
> चांद पर है चाँदनी मानो पडी
> आईना इसको लगे हैं मानने
> है बनाया हाथ से भगवान ने
> हाथ अपने आप जाता है उधर
> बैठ जाता हाथ तब तत्काल है
> जिस तरह सम पर ध्रुपद की ताल है।

उस दिन जितना हँसा था, उतना हँसने का अवसर शायद ही कभी मिला हो। उस सभा म सौंदय, फैशन, प्रभुता और प्रतिभा सभी का प्रचुर

रूप म प्रतिनिधित्व हुआ था। व सभी ठहाका लगान म एक दूसर स होड ले रहे थे। सबकी दृष्टि अपने आस पास चमकती हुई चांद की चाल रही थी और मास्टर साहब समरस हो शान्त मद स्वर म गजी खोपडी पढत चले जा रहे थे।

भारतीय और पाश्चात्य सभी हास्यकारो न गजी खोपडी का हास्य का आलबन बनाया है, लकिन इतनी शिष्ट और सारगर्भित भाषा का प्रयोग बहुत ही कम व्यक्ति कर पाए। जीवन म हास्य का उतना ही महत्त्वपूर्ण स्थान है, जितना काम और श्रम का। जो व्यक्ति हँस नही सकता वह सुखी नही रह सकता। हास्य मात्र ऊर्जा ही नही है, वह एक जीवन पद्धति भी है। विवक के अभाव म वह निरथक ही नही, भयानक भी प्रमाणित हो सकती है। ससार के सभी महापुरुषों ने इसकी शक्ति और उपयोगिता को स्वीकार किया है। महात्मा गाधी न कहा था—'यदि मुझम विनोद वत्ति न होती तो कभी का मर गया होता।

दुर्भाग्य से हमन हास्य विनोद के महत्त्व को सही रूप म कभी नही आँका। सहज रूप म स्वीकार कर लिया कि हास्य की सृष्टि करना अत्यत सरल है। कुछ भोंडी उक्तियाँ कुछ अश्लील उपमान, कुछ अटपटे शब्द और प्रतिभा का कुछ साहसिक प्रदशन करना हो तो कुछ गालियाँ भी बस हास्य विनोद का यही नुस्खा हमारे साहित्य म प्रचलित रहा है। लकिन निमल हास्य क लिए सचमुच निमल, निष्कपट, छलछिद्ररहित हृदय की आवश्यकता होती है और धाराप्रवाह भाषा सदा ऐसे निमल हृदय का अनुसरण करती है। बेढब जी जैसे हास्य साहित्य का सृजन उतना ही कठिन है जितना दशनशास्त्र की गुत्थियाँ सुलझाना या उच्च गणित के सिद्धातो का प्रतिपादन करना।

कितन ऐसे व्यक्ति हैं, जो अपनी रचना पढत समय स्वय तो गभीर रहत हैं और श्रोतागण अट्टहास कर करके परेशान हो उठते हैं। मास्टर साहब हास्य की सष्टि बेढब बनारसी क नाम से करते थ। मैंन जब भी उन्हें अपनी रचनाएँ पढते देखा कभी हँसते नही देखा। मैं नही जानता व कभी ठहाका लगाते थे या नही परन्तु चश्मे के भीतर स चमकनवाली उनकी आँखो म शरारत-भरी मुस्कान की झलक अवश्य दिखाई देती थी। यह

गभीर मुद्रा और शरारत भरी मुस्कान ! हास्य-रस का इससे बडा आलबन और क्या होता होगा ?

मास्टर साहब शिक्षाविद भी थ । डी० ए० वी० कालेज बनारस क प्रिंसिपल पद स उन्होन अवकाश ग्रहण किया था । अपन जीवनकाल म सहस्रो विद्यार्थियो की उन्होन ज्ञान की प्यास बुझाई । व यदि गभीर और परिष्कृत हास्य-व्यग्य न लिखत तो कौन लिखता ? इसलिए कभी कभी ऐसा होता था जब वे अपनी पूरी बात कह जाते उसके बाद ही श्रोताओ को हँसी आती थी । उनकी कहानियाँ और निबध पढकर सहसा हसन का मन नही करता लेकिन जैसे ही शब्द मन के भीतर उतरते हैं तो उत्फुल्लता उमड पडती है । यह उनकी दुबलता हो सकती है, लेकिन अशिष्टता किसी भी तरह नही । बहुत दिन पहले उनका एक लेख पढा था जिसम उन्होन आज स लगभग सौ वर्ष बाद क ससार की एक झाँकी दी थी । उसम उन्होन उस युग म प्रचलित कुछ परिभाषाएँ दी थी । उदाहरण के लिए ईश्वर की परिभाषा देखिए—एक खिलौना जब मनुष्य अधसभ्य था तब इसस खेला करता था । इसकी विशेषता यह थी कि जो मनुष्य जब चाह इसका रूप अपनी मौज के अनुसार बना सकता था । उन्होन शराब की परिभाषा इस प्रकार की है—एक पेय जो तो लाखो वर्षों स इसका प्रयोग होता चला आया है, किन्तु जब स विज्ञान युग शुरू हुआ है यह प्रमाणित हो गया है कि इससे मस्तिष्क को बडा लाभ पहुचता है । विधान द्वारा सरकारी कमचारी और साहित्यकार के लिए यह अनिवाय कर दी गइ है ।

इन शब्दो म अपन आप म कोई ऐसी विशेषता नही है कि सहसा हँसी फूट पडे लेकिन जैसे ही इनका अथ अपनी ध्वनि बिखेरता है तो इनका शिष्ट व्यग्य मन का कचोट देता है । शिक्षाशास्त्री होन क नाते उन्होंने जिस मर्यादा को स्वीकार किया था उसन जहाँ उनकी रचनाओ को गरिमा प्रदान की, वहाँ उनकी जनसुलभ लोकप्रियता पर कुछ अकुश भी लगाए ।

अपन व्यक्तिगत जीवन म वह बहुत ही सहृदय और सौम्य स्वभाव क व्यक्ति थ । उनक मित्रो की सख्या सीमित नही थी । उनके कायक्षेत्र भी अनक थ । शिक्षा, साहित्य पत्रकारिता सस्थाओ का सगठन सभी क्षेत्रा म वे आए और लोकप्रिय हुए । अनक पत्रा का उन्होन सपादन किया ।

अनेक पत्रो मे हास्य व्यग के कालम लिखे। प्रधानत वे कवि थे, लेकिन आलोचना के क्षेत्र म भी उन्होंने ठोस काम किया है। 'आधुनिक खडी बोली का इतिहास' इस बात का साक्षी है। वह उस युग के व्यक्ति थे जब साहित्य मे सम्राटो का बोलबाला था। प्रेमचन्द (उपन्यास), प्रसाद (कविता), रामचन्द्र शुक्ल (आलोचना) ये तीनो सम्राट काशी मे रहते थे। तब काशी निवासी बेढब जी को हास्य व्यग्य का चौथा सम्राट क्यो नहीं माना जा सकता? शिष्ट हास्य की अनेक अमूल्य कृतिया उन्होंने दी हैं। कविता, कहानी निबध, सभी विधाओ पर उनका समान अधिकार था। जीवन के अन्तिम क्षण तक उनकी प्रतिभा का स्रोत मद नही पडा।

उनका पूरा नाम कृष्णदेव प्रसाद गौड 'बेढब' बनारसी था। गौरवर्ण, सौम्य सुन्दर मुखाकृति, सरल मधुर स्वभाव धीरे धीरे निकलने वाले व्यग्य विनोद से ओत-प्रोत शब्द जो सुनता पुलकित प्रभावित हो उठता। अपने यौवन म वे निस्सदेह आकर्षण का केन्द्रबिंदु रहे होगे। मुझे उनका आतिथेय और अतिथि दानो ही बनने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है। प्रत्येक बार ऐसा लगा कि मैं अत्यत सात्त्विक और आत्मीयतापूर्ण वातावरण म रह रहा हूँ। वे जितना धीमे बोलते थे उतना ही धीमे से हँसते भी थे। अतिम बार अचानक ही जब आकाशवाणी के इलाहाबाद केन्द्र म मिलना हुआ तो पाया जैसे वे कुछ थके थके से हैं। बेधडक जी भी साथ थे। उन्होंने मेरा परिचय कराने की दष्टि से जैसे ही कहा, 'मास्टर साहब जी ये विष्णु प्रभाकर ।' वे तुरत बोल उठे—'अरे तुम इनका परिचय कराओगे। मैं तो इनके घर भोजन कर आया हूँ।'

और यह कहते हुए उनकी आँखो मे वही सहज मुस्कान चमक उठी। बडे स्नेह से देर तक बातें करते रहे। मैंने कहा— आपका स्वास्थ्य कैसा है? कुछ थके-थके से दिखाई दे रहे है।'

बोले— ठीक है, नजदीक पहुँच रहे हैं। तुम तो जानते ही हो।

मैंने कहा—'अभी आपको ऐसी बात नहीं सोचनी चाहिए।'

वे मुस्करा उठे। उस क्षण मैं इस बात की कल्पना नही कर सकता था कि अगले हफ्ते दिल्ली लौटकर मुझे वह समाचार सुनना पडेगा, जो अवश्यभावी होकर भी मन को पीडा से भर देता है। मेरी उनकी इतनी

घनिष्ठता नही थी जिसे पारिवारिकता की सज्ञा दी जा सके, लेकिन इस अल्पपरिचय के परिणामस्वरूप भी मेरे मन मे उनके प्रति ऐसा स्नेह भाव पैदा हो गया था जो जोडता है तोडता नही।

उनके सबध म बहुत-कुछ वर्षों से सुनता और पढता आया हूँ। उन्होंने नागरी प्रचारिणी सभा और हिन्दी साहित्य सम्मेलन दोनो ही सस्थाओ मे बहुत काम किया है। हिन्दी के प्रति उनकी ममता अगाध थी पर वे मदाध नही थे। किसी दलविशेष के साथ उनका सबध आधुनिक राजनीति के स्तर तक पहुँच गया हो ऐसा कभी नही सुना। यो, काशी वालो का अपना दल होता ही है, लेकिन वहाँ भी उनका वचस्व परिष्कार की ओर ही अधिक रहा होगा। सुनता हूँ, उन्ह क्रोध भी आता था। उस समय उनके स्नेह के आतक से पूण अहिंसक आकृति कैसी लगती होगी ?

वे द्विवेदीकालिक हास्य का परिष्कत करके वतमान युग मे ले आए थे। इतिहास इसके लिए उनका कृतज्ञ रहेगा। काशी विद्वत्ता और प्रतिभा की नगरी है। विश्वप्रसिद्ध दाशनिक और सत वहाँ हुए हैं। कबीर और भारतेंदु जैसे युगप्रवर्तक अक्खड और मस्त जीव भी वहीं हुए हैं। दानो ही दबग और मानवीयता स ओत प्रोत थे। बेढबजी पर इन सबका प्रभाव था। तुलसी का परिष्कार, कबीर और भारतेंदु की अल्हड मस्ती, इसी उज्ज्वल परपरा की वे मधुर कडी थे। लकिन आज तो परपरा म किसी का विश्वास नही रह गया है, इसलिए उनका स्थान कौन लेगा या किसन लिया है इस पर चर्चा करना व्यथ है। यही कहा जा सकता है कि वे अपनी परपरा आप थे। वे अपन पूवजो के ही उत्तराधिकारी नही थे, अपन उत्तराधिकारी भी थे।

बाबू गंगाशरण सिंह

गंगा बाबू के लिए लिखूं—बहुत गहरे डूबना होगा, क्योंकि इतने रूप हैं उनके मेरे सामने कि क्या भूलूं क्या याद करूं।

इसी उलझन में पड़ा था कि देखता हूं सामने से गंगा बाबू ही तो चले आ रहे हैं धीरे धीरे चिर परिचित मंथर गति से। स्थूलकाय, शरीर पर कुरता धोती हाथ में बेंत, सिर पर शुभ्र श्वेत गांधी टोपी, चेहरे पर हल्की सी थकान पर आंखों में अद्भुत चमक—कभी गहरे डूबती कभी उल्लास से छलछलाती, कभी जैसे किसी की कमजोरी पर खीज से भरी भरी।

पूछ लिया सदा की तरह— कहाँ से आ रहे हैं आप?'

बोले धीरे धीरे, "वह ऐसा हुआ कि मेरा रोग मेडीकल इंस्टीटयूट के डाक्टरों की समझ में कुछ आया, कुछ नहीं आया। उन्होंने अंतिम रूप में कुछ निश्चय करने से पूर्व यम लोक के डाक्टरों से राय लेना उचित समझा। बस वहीं गया था, जांच चल रही है। वहाँ की आदर्श व्यवस्था देखकर तो चकित रह गया। व्यवहार भी कितना मधुर। वैसा ही अनुशासन। मैंने पूछा कितना समय लगेगा। जो प्रमुख थे बोले 'अभी कुछ नहीं कह सकते। आपका केस थोड़ा जटिल है। पर आप चिन्ता क्या करते हैं?"

मैंने कहा, मेरी चिन्ताएँ कितनी हैं, आप क्या जानते हैं। आज ही संस्था संघ की बैठक है "

वे बोले, बैठक में तो आप नहीं जा सकेंगे अब।

मैंने कहा, "यह कैसे हो सकता है कि सस्था सघ की बैठक हो और मैं न रहूँ। आप नही जान देंगे तो सत्याग्रह कर दूगा। समाजवादी हू पर गांधी जी का शिष्य भी हूँ।"

वडे जोर से हँसे प्रमुख, 'अरे गगा बाबू ! यहाँ सत्याग्रह मत करिए, पर दखिए न। हर जगह के अपने नियम हात हैं। नही तो काम कैसे चल, पर घर ! आप नय हैं। इस बार ता भेजन का प्रबध किए देता हूँ। लौटकर मेरे पास आइएगा। तब सोचेंग आग कैसे करना है।"

"और व स्वय मुझे यहाँ छाड गए। स्वय ही लेने आयेंगे।" यह कर गगा बाबू बडे जोर स हसे। वैसे उनके जोर से हँसन मे आवाज कम होती थी, शरीर का मन्थन अधिक होता था। और जब स्थूल शरीर का मन्थन हो तो दूसरा की हँसी उस पर घण्टियो की तरह बज उठनी है।

व बोल रहे थ और मैं उन्ह दख जा रहा था। विचार तुमुल नाद मचा रह थे कि वे बोले, "अब उठो और चलो सभा भवन मे। वही बातें करेंगे ।

और वे सदा की तरह आग बढ गए, धीरे-धीरे और मैं अचक्चा कर उठा—कही कुछ नही था। मैं अकेला अपने कमरे म बैठा गगा बाबू के बार म लिख रहा था। मुझे आज भी विश्वास नही हो रहा था कि गगा बाबू नही रहे। सचमुच उस लाक म चले गए हैं जहाँ चाहे जैसी सुव्यवस्था हो, न तो डाकतार का कोई प्रबध है, न दूरभाष की सुविधा है। आत्मा है या नही मैं नही जानता तो वह निश्चय ही उनकी सस्थाओ के आस-पास मँडरा रही होगी। आत्मा नही है तो पचतत्त्व पचतत्त्व म समा गये, अब कैसा लौटना—

पर उनकी याद तो जीवन भर कुरेदती रहेगी और वे ऐसे ही कही से फोन कर देंगे—मैं गगाशरण सिंह बोल रहा हूँ। तुम्ह इस बार देवघर अवश्य चलना है। पहले ही बता रहा हूँ।

मैं उनसे कब मिला पहली बार, कुछ याद नही। राजनीति मे गाधी नीति से बहुत प्रभावित रहन के बावजूद मेरी सहानुभूति समाजवादियो से रही है। यद्यपि वे अपने अस्तित्व को कभी आकार नही दे पाये। बिखर बिखर गए। इसीलिए मैंने मार्क्सवादियो की प्रगतिशील लेखक

सघ और इप्टा जैसी सांस्कृतिक गतिविधियों से अपने को जोड़े रखा। शांति-सम्मेलन में भी भाग लिया। गगा बाबू, आचार्य नरेन्द्र देव, श्री जयप्रकाश नारायण और डा० राममनोहर लोहिया के साथियों म प्रमुख थे, पर उनकी गतिविधियाँ राजनीतिक परिदृश्य तक सीमित नहीं थी। स्वाधीनता सग्राम म व अग्रणी रहे पर स्वाधीनता प्राप्ति के बाद सत्ता का माह उन्हें कभी नहीं व्यापा। उन्होंने अपने प्रान्त में अनेक सांस्कृतिक और शैक्षणिक सस्थाओं की स्थापना की और जीवन के अंतिम क्षण तक उन्हें सँवारते सँभालते रहे। साधनों के अभाव म भी उनम प्राण फूकते रहे।

वे सर्जक नहीं थे पर साहित्य में उनकी रुचि की थाह नहीं थी। स्मृति उनकी अद्भुत थी। कितने सस्मरण, कितने गीत, कितनी गजलें, कितने अशआर उन्हें कठस्थ थे। उनके पास बैठना साहित्य की गंगा म गोते लगाने जसा था। उनके प्रसग म सबसे पहली याद साहित्य को लेकर ही है। राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त जब राज्य सभा के सदस्य थे तब उनकी महफिलों म ही मैंने उन्हें पास स देखा था। और उनके प्रति मन म एक अपनत्व का भाव पनप आया था जिसम आदर से कहीं अधिक प्यार और स्नेह की पावन तरलता थी।

वह सन्ध्या मैं कभी नहीं भूलता जब मैं अपने कुछ मित्रों के साथ जन पथ पर स्थित वैस्टन कोट म उनके सरकारी आवास पर गया था। तब वे राज्य सभा म थे सभवत। उस दिन न जाने कितनी देर तक नाना रूप गीत और अशआर सुनाते रहे थे और हम पुलकित होते रहे थे।

वे अनेक क्षेत्रों म सक्रिय रहे, पर राष्ट्रभाषा हिन्दी के लिए तो उन्होंने अपना सर्वस्व ही दाँव पर लगा दिया था। वे पूर्ण रूप से समर्पित थे उसके प्रति। उनके अनथक प्रयत्नों से राष्ट्रभाषा का प्रचार करने वाली देश भर म फैली नाना रूप सस्थाओं का एक सघ बना और व हुए उसके अध्यक्ष। वे जितने प्रेमिल स्वभाव के थे उतने ही कठोर नियामक भी थे। विपरीत परिस्थितियाँ उन्हें कभी विचलित नहीं कर सकीं। जिनकी मातृभाषा हिन्दी थी, उनकी और जिनकी मातृभाषा हिन्दी नहीं थी, उनकी और सरकार की भी दुर्बलताओं से व खूब परिचित थे, लेकिन

साम-दाम दड-भेद इनम से जिस भी अस्त्र की आवश्यकता होती उसे अपनाकर अपना काम कर ले जाते थे।

पूरे वष वे यात्रा पर रहते—इस क्षण पूर्वी सीमान्त पर हैं तो उस क्षण अरब महासागर के तट पर। आज पश्चिम सीमान्त मे समारोह है तो कल बगाल की खाडी तटवर्ती प्रदेश म। गगा बाबू यत्र-तत्र सवत्र हैं। अकेले नही, साथियो का दल भी साथ है। चाहे दिल्ली मे अ० भा० राष्ट्रभाषा सम्मेलन का भव्य आयोजन हो या कायकर्ताओ का शिविर, चाहे विद्वानो को यात्रा पर ले जाना है या यात्रा पर आये हिंदी पढने वाले विद्यार्थियो का स्वागत करना है, चाहे हिंदी की ज्योतिष का स्वागत करना हो या विदा दनी हो, गगा बाबू हर स्थान पर सक्रिय हैं। सस्था सघ की पत्रिका हो या पुस्तको का प्रकाशन, सब पर उनकी दृष्टि रहती। अनुदान का अपव्यय तो नही हो रहा इस पर भी भरसक ध्यान रखते।

नाना रोगो का आवास था, उनका शरीर। हृदय म 'पेसमेकर' लगा हुआ था तलुआ म डील बन गए हैं। बार बार जाँच के लिए हस्पताल म दाखिल होते पर कैसी भी सभा हो, कैसी भी बैठक हो वहाँ वे अवश्य पहुँच जाते थे। रोग शैया स उठकर आते और काम हो जाने पर वापिस वही लौट आते।

अदभुत जिजीविषा थी उनम। गांधी युग के व ऐसे प्रकाश स्तम्भ थे जिसकी ज्योति उनक जाने के बाद भी आने वाली पीढियो का मार्गदर्शन करती रहेगी। लोग उनकी कहानी कहेंगे। एक आदमी था जो कभी थकता ही नही था। वह तो दिल बीच मे दगा दे गया नही तो यमराज के दूत कभी भी न छू पाते उन्हे। क्रोध उन्हे आता था चेहरा तमतमा उठता, काम मे तनिक भी लापरवाही, जरा भी उपेक्षा उन्हें सह्य नहीं थी। उग्र होकर व अपराधी को डाँटते थे। न जाने यमदूत उनके आक्रोश से कैसे बच गए। नही तो व चीख पडते "तुम्हे मुझे लेने आने का साहस कैसे हुआ। पता है कितना काम पडा है करने को अभी।"

मैं कहता, "बाबू जी! अब तो आप अवकाश ले लीजिए। बहुत कर चुके सेवा।"

व उत्तर देते, "मैं तो ले लू अवकाश, पर कौन सँभालेगा? तुम तो

जानते ही हो हिन्दी की स्थिति। तुम तैयार हो?"

कहा वे हिमालय के शिखर सरीखे कहाँ मैं एक निरापद चट्टान। मैं देखता रह जाता, उनके ममत्व को। पर ममत्व भी तो एक बेड़ी ही है। क्या नहीं तोड़ सके वे उसे लेकिन मैं जानता हूँ। विकृत राजनीति के इस युग में हिन्दी की हत्या मात्र हत्या ही नहीं थी अराजकता को निमंत्रण देना भी था। अपनी दूर दृष्टि से उन्होंने उस संकट को भाँप लिया था। हिन्दी की कितनी संस्थाएं विघटित हो चुकी हैं या होने के कगार पर हैं। वे बार बार हिन्दी भाषा भाषियों से कहते 'हिन्दी गोद चली गयी है। आप लोग उसकी चिन्ता न करें। चिन्ता वे करेंगे जिन्होंने गोद लिया है जिन्होंने तुम्हारी जननी को माँ का पद दिया है।'

लेकिन किसी ने उनकी नहीं सुनी और जो इतिहास की अनिवार्यता के कारण सहज सोते की तरह फूटी थी, सबकी प्यास बुझाने के लिए उसी को हमने देश के विघटन का कारण बना दिया।

यही दर्द उन्हें सालता था। यही उन्हें मुक्त नहीं होने देता था। जिन संस्थाओं से वे जुड़े थे वे मात्र राष्ट्रभाषा से सम्बन्धित नहीं थीं। देवघर विद्यापीठ जैसी अनेक शिक्षण संस्थाओं के वे कुलाधिपति और कुलपति थे। सबके उत्कर्ष और अपकर्ष में वे समान रूप से भागीदार थे। सरकार से जूझते रहते और उन्हें सक्रिय रखने की ओर सचेष्ट रहते। समर्पित कार्यकर्ताओं की पीढ़ी तेजी से समाप्त होती जा रही है, इस कारण इन *संस्थाओं को लेकर वे बहुत दुखी रहते। बार-बार मुझे भी खींचते अपने* पास। कभी पुस्तक लिखवाते कभी लेख। कभी संस्थाओं के उत्सवों में ले जाते।

उस दिन लिखने में व्यस्त था कि फोन पर सूचना मिली गंगा बाबू चाहते हैं कि आप कटक चलें। वहाँ कटक राष्ट्रभाषा प्रचार समिति का रजत जयन्ती समारोह है। आपको हिन्दी-साहित्य पर बोलना है। हमें हवाई जहाज से जाना है। गंगा बाबू साथ रहेंगे।

मैं तैयार हो गया। अगले दिन टिकट हाथ में था और विमान पत्तन पर गंगा बाबू उपस्थित थे। भुवनेश्वर पहुँच कर पाता हूँ कि गंगा बाबू *यहाँ उतने ही लोकप्रिय हैं जितने बिहार या दिल्ली में। हवाई जहाज से*

उतरत ही घिर गये। राजभवन मे ठहरे हम। मैं तो चकित था वहाँ के सामती वैभव पर। डर लगता था, कमरे से बाहर आते। चारो ओर से बावरची और अफसर दौड पडते, "क्या चाहिए हजूर। कही जाना है ?"

मैं घबरा कर कहता, "मुझे न कही जाना है, न कुछ चाहिए, जरा बाहर देख रहा था।"

लेकिन वे उसी सहज भाव से जैसे सस्था सघ मे अँधेरे बद कमरे मे साथियो के बीच खर्राटे भरते थे, वैसे ही यहाँ भी एक आधुनिक साज-सज्जा वाले विशाल प्रकोष्ठ मे लेटते ही सो जाते। वैरागी का मन था उनका।

किसी को डाँटते, किसी को सराहते। राज्यपाल से उसी गरिमा से बातचीत करते। मैं मूक दर्शक बना देखता रहता गांधी के देश के वैभव को। वे बार-बार मेरा परिचय देते। मरे भाषण से बेहद प्रसन्न हुए। मेरे भी परिचित साहित्यकार थे पर उनका परिचय तो विविध क्षेत्रीय था। स्वाधीनता सग्राम के पुराने साथी पुराने समाजवादी जो अब कहानी बनते जा रहे थे साहित्य सेवी हिन्दी प्रचारक। एक क्षण चैन नही था उन्हे। सभी पुराने साथियो के घर स्वय गये। स्मरणीय बन गयी मेरी यह यात्रा। उन्ही के कारण मैं जगन्नाथ जी के यात्रा उत्सव मे बलराम, सुभद्रा और कृष्ण के विग्रहो को छू सका।

लेकिन देवघर की यात्रा तो अनुभूति के स्तर पर अद्भुत थी। वातानुकूलित द्वितीय श्रेणी मे आरक्षण था। चलते चलते सहसा वे गिर पडे। कमर मे काफी चोट आई। सारी रात बैठे रहे बेंत पर दोनो हाथ और हाथो पर ठुडडी रखे कराहते कराहते। कमर सीधी करते तो दद चीर जाता आर पार। मैं कई बार पास गया पर रात मे सो गया। सवेरे उठते ही पहुँचा तो वैस ही बैठे थे और सामन की बथ वाले बगाली दम्पति भी। बोले 'ये बैठ रहे तब हम कैसे सोते ?"

गगा बाबू ने रात मे ही बता दिया था कि मैं 'आवारा मसीहा' का लेखक हूँ। वे बधु और भी अभिभूत रहे। लेकिन मेरे पहुँचते ही गगा बाबू साथी का सहारा लेकर बाथरूम गए। जाने से पहले बाले, "पटना स्टेशन पर मेरा नाश्ता और खाना आयेगा। साथ ही खाइयेगा।"

पटना म मेरी भतीजी भी थी। मैंन उसे सूचना दे दी थी, वह भी ढेर सा सामान ले आई। गगा बाबू के घर स भी कई जना का खाना आ गया। तब गगा बाबू का दद न जान कहाँ चला गया। खाते रह और सस्मरण सुनाते रह। छोटी मोटी गोष्ठी हो गई जैसे पगत बठने पर हाती है। बगाली दम्पति भी बह गए उसम। रवि बाबू का वह प्रसिद्ध सस्मरण भी सुनाया गगा बाबू न।

एक बार यात्रा म रवि बाबू किसी अन्य यात्री के स्थान पर बठ गए। तब वह कहीं चल गये थ। लौट कर उन्होंने रवि बाबू को देखा तो चिल्लाये, यह मरी जगह है उठो यहाँ स।"

रवि बाबू के सचिव बोले, 'भाइ! डिब्बा खाली है आप उधर बठ जाइए।"

'नही मैं यहीं बैठूँगा। उठते हैं कि नही।"

सचिव बोला 'क्या मैं आपका परिचय जान सकता हूँ?

"दख नही रह मैं मनुष्य हूँ।'

रवि बाबू न उनकी ओर देखा, मुस्कराये, बोले, 'सन्य दूर हालो।'

उन बधु की क्या हालत हुई हागी इसकी कल्पना की जा सकती है पर हमारा कम्पाटमट तो मुक्त अट्टहास से गूज उठा था।

देवघर म व पीडा से कराहते रहे डाक्टर आये और गये। उनके मित्र भी आय। सक हुई, पर वे नशे म रह जैस। मैं सचमुच डर गया। लेकिन सवेरे वही कष्ट पर चाय पर वही चुटकुले। 1926 27 म एक कवि सम्मलन हुआ था। प्रसिद्ध आशुकवि नाथूराम शर्मा शकर' काफी वद्ध हो चुके थे उनसे भी कविता पाठ का आग्रह किया गया। वे बोले—

> बूढे शकर से हाथ जोड कहती कविता बाला,
> होकर सूर भजा केशव को लेकर तुलसी की माला।

मथिलीशरण जी ने एक कविसम्मलन म कविता पढी—

> कह माँ एक कहानी
> कह राजा था कि रानी
> थी कहती मरी नानी

जनता म से किसी ने कहा, "नानी नही नाना।"

द्विज (जनादन प्रसाद द्विज) ने एक कविता पढी। उसमे अपने को उन्होंने ममना कहा। महावीरप्रसाद द्विवेदी बोले, "मेमना नहीं, तुम तो शेर हो।"

जनता चिल्लाई, 'मेमना हो या शेर, रहेंगे तो आखिर पशु ही।'

एक कविसम्मेलन मे किसी ने नारी के शरीर की वृक्ष से तुलना की तो नारियाँ क्रुद्ध होकर वहाँ से चली गयी।

यह तो कुछ उदाहरण हैं। काश कोई सग्रह कर पाता इन सस्मरणो का।

सम्मेलन के दिन भी (14 2 88) उनकी तबियत वैसी ही थी पर वे तैयार थे। सवेरे एक बैठक थी उनकी। शाम को सब काम नियमानुसार हुए। परिधान धारण, शोभा यात्रा-सगीत, उपाधि वितरण सकल्प गगा बाबू सहज भाव से सब देख रहे थे। मेरा भाषण जनता ने ध्यान-मग्न होकर सुना। काफी सख्या मे आये थे लोग। समारोह की सफलता से वे प्रसन्न थे। परम चकित था उनकी जिजीविषा पर। चाय पर और भी उत्फुल्लता, और भी सस्मरण।

सवेरे वे कुछ और मूड म थे। परिवार की और अपनी बातें करते रहे। पहले भी कई बार परिवार की बातें करते-करते कही खो जाते, दद जैसे जकड लेता उन्हें। भाई की मृत्यु की चर्चा करते करत कितने व्यथित हुए। बहुत दिनो तक मैं यह भी नहीं जानता था कि उनका अपना परिवार भी है या नहीं। बाद मे पता लगा, पत्नी है एक बेटी है, पर वे घर रहते कब थे, उनका घर तो पूरा हिन्दी परिवार, पूरा देश था।

वे महफिली मानुष ही नही थे, खूब अध्ययन भी करते थे। सामयिक साहित्य भी पढते थे। एक दिन साप्ताहिक हिन्दुस्तान मे छपी मेरी लम्बी कहानी का मार्मिक विश्लेषण ऐसी गदगद करने वाली भाषा मे किया कि मैं चकित विभोर उन्हें देखता ही रह गया था।

काश कोई उनकी जीवन-गाथा लिख सके। वह उस सघर्षमय युग की जीवन गाथा होगी। जो आदर्शों के लिए जिया और समाप्त हो गया, गगा बाबू उसी युग की आकाशगगा के देदीप्यमान नक्षत्र थे। वे नही रहे,

यह मानने को मन तैयार ही नहीं है। ऐसे नक्षत्र कभी अस्त नहीं होते। उन्हीं का प्रकाश उधार लेकर ही तो विधाता अपनी धरती पर सूरज चन्द्र की सृष्टि करते हैं।

ये हमारे थे सदा हमारे साथ रहेंगे, यह याद दिलाते हुए—

अँधेरा माँगने आया था रोशनी की भीख
हम अपना घर न जलाते तो क्या करते!

श्री जगदीशचन्द्र माथुर

जगदीशचन्द्र माथुर, यह नाम था उस व्यक्ति का, जो एकसाथ प्रशासक, साहित्यकार, नाट्यविद् और लोक-संस्कृति का उपासक था। और, उसके इन सब रूपों को आवृत किए थी उसकी सहज मानव आत्मा। प्रशासकीय यन्त्र में आबद्ध उसकी यह आत्मा कभी कभी इस तरह तड़फड़ा उठती थी कि वह कह पड़ता 'चलो, कहीं सड़क पर खड़े होकर चाट खाएँ।'

मुक्ति के लिए यह छटपटाहट माथुर साहब में निरन्तर बनी रही। यूनेस्को के प्रोजेक्ट पर थाईलैण्ड जाते समय उन्होंने जो कुछ कहा था, उसमें भी यही भाव निहित था। तब वह भारत-सरकार के हिन्दी सलाहकार थे। बोले 'जा रहा हूं, यह मेरे लिए अच्छा ही है, क्योंकि मैं जानता हूँ कि सरकार हिन्दी के लिए कुछ नहीं करने वाली। मैं उसमें भागीदार नहीं होना चाहता। इसलिए यहाँ से मुक्ति पाना मेरे लिए हर्ष की बात है।'

'लेकिन, वहाँ तो आप एक ही वर्ष के लिए जा रहे हैं।'

'हाँ पर समय बढ़ सकता है। लगता है, वहीं से अवकाश लूंगा।'

और वहीं रहते वह इण्डियन सिविल सर्विस के चक्रव्यूह से मुक्त हो गए। लेकिन, नियति को शायद यही स्वीकार नहीं था कि वह साहित्य और संस्कृति के क्षेत्र में अपने अधूरे सपने को पूरा करें। वह अचानक वहाँ चले गए, जहाँ से लौटने का मार्ग अभी तक कोई प्राणी नहीं खोज पाया है!

माथुर साहब में अनेक गुण थे। उत्साह की तो कोई सीमा ही नहीं

थी। उसे 'अति उत्साह' की संज्ञा दी जा सकती है। यही उनकी सबसे बड़ी शक्ति थी और यही दुर्बलता भी, जो उनके लिए शत्रु पैदा करती थी।

सन् 1956 ई० में भारत में भगवान् बुद्ध की 2500वीं जन्म-जयन्ती जिस उत्साह और जिस स्तर पर मनाई गई, उसकी तुलना खोजे नहीं मिलेगी। एक तो भारत-सरकार की कूटनीति थी पड़ोसी बौद्ध देशों को आकृष्ट करने की, दूसरे तथागत के प्रति इस देश के बुद्धिजीवियों की अपनी आस्था भी कम नहीं थी। तीसरी सबसे बड़ी बात यह थी कि उस समय सूचना और प्रसारण मन्त्रालय का संचालन जिन व्यक्तियों के हाथों में था, वे सभी साहित्य और संस्कृति के जाने माने नाम थे। मन्त्री थे डा० केसकर, सचिव थे मराठी के प्रसिद्ध विद्वान् डॉ० लाड और आकाशवाणी के महानिदेशक थे स्व० जगदीशचन्द्र माथुर। उन सबकी कल्पना लोक में आकाशवाणी भारतीय संस्कृति के प्रचार प्रसार का सबल और सार्थक माध्यम थी, जो कुछ भारतीय संस्कृति और साहित्य में सर्वोत्तम है, वही आकाशवाणी को प्रसारित करना है।

इस कल्पना को रूप देने के लिए कैसी-कैसी योजनाएँ बनीं। साहित्य-समारोह, संगीत समारोह, नाट्य-समारोह, राष्ट्रीय कवि-सम्मेलन, खुले प्रांगण से कार्यक्रमों का प्रसारण, सीधे रंगमंच से नाटकों का प्रसारण, आँखों देखी, संस्कृत में नाटकों का प्रसारण इत्यादि इत्यादि। आकाशवाणी जैसे वातानुकूलित स्टुडियो से निकलकर खुले आकाश के नीचे, मुक्त प्रांगण में आ गई थी। कैसी गहमागहमी थी उन दिनों! इसी गहमागहमी को रूप देने के लिए एक योजना अस्तित्व में आई। वह थी प्रत्येक भाषा के प्रसिद्ध लेखकों को निर्देशक के रूप में आकाशवाणी से जोड़ने की। मैं भी उसी योजना के अन्तर्गत दिल्ली केन्द्र में नाटक विभाग का निर्देशक नियुक्त हुआ। स्वप्न में भी मैंने यह पद नहीं चाहा था, लेकिन आश्चर्य, एक दिन फोन पर स्व० महाकवि सुमित्रानन्दन पन्त की आवाज आती है 'विष्णु प्रभाकर जी, माथुर साहब चाहते हैं और मैं भी चाहता हूँ कि आप दिल्ली के नाटक-विभाग में आ जाएँ। सभी जाने-माने साहित्यकार आ रहे हैं।

मैं चकित रह गया। यह गौरव बिना मांगे मिल रहा है, लेकिन मैं

तो मुक्त रहने का निश्चय कर चुका था। उस समय टाल गया। माथुर साहब ने सीधे मुझसे कुछ नहीं कहा। नाना दिशाओं और नाना मित्रों के मुख से बहुत कुछ सुना। श्रेय जैसे उन सबका था, लेकिन फोन फिर पतजी का ही आया 'प्रभाकर जी, हम सब चाहते हैं कि आकाशवाणी सरकार का केवल एक प्रचार तन्त्र बनकर न रह जाय। आप लोग आइए। वेतन भी अच्छा है। रीडर का ग्रेड दे रहे हैं।'

माथुर साहब चाहें और पन्त जी फोन करें। मैं असमजस मे पड गया। मित्रो को और परिवारों को टटोला और अन्त मे निश्चय किया कि तीन वर्ष के लिए प्रयोग कर देखने योग्य है।

लेकिन, मैं उस सोने के पिंजरे मे तीन वर्ष नही रह पाया। अठारह महीने काटने भी मुश्किल हो गए। हाँ, उतने समय मे वहाँ जो कुछ देखा वह निश्चय ही अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। सन 1955 ई० का, सितम्बर का वह महीना मेरे साहित्यिक जीवन की विभाजक रेखा प्रमाणित हुआ। माथुर साहब को बहुत पास से देखा है। उनका स्नेह पाया। नोक-झोक भी हुई। लेकिन, एक क्षण के लिए भी मैंने यह अनुभव नही किया कि मैं किसी नौकरशाह (ब्यूरोक्रेट) के नीचे काम कर रहा हू। मेरे लिए वह एक साहित्यिक मित्र ही बने रहे।

जीवन म पहली बार उनसे दिल्ली के एक सम्मेलन मे भेंट हुई थी—किसी मित्र के माध्यम से। प्रथम मिलन की वह मधुर मुस्कान अन्तिम मिलन के क्षण तक म्लान नही हुई। तब मुझे उन्होंने अपना एकाकी-सग्रह भेंट किया था। उसके बाद एक दिन वह अचानक मसूरी मे, लाइब्रेरी के पास मिल गए। बडे प्रसन्न हुए। बोले 'मुझे तो आपके एकाकी बहुत अच्छे लगते हैं। पता नहीं आपको मेरे नाटक कैसे लगते हैं ?'

मैं तो उनके शिल्प और उनकी भाषा पर मुग्ध था। उनकी यह बात सुनकर स्तब्ध रह गया। यह भारतीय सिविल सर्विस के उच्च अधिकारी और मैं एक अजनबी दिशाहारा। जानता हू वह मुझसे शिष्टाचार नही बरत रहे थे, मन की बात कह रहे थे। भाई कान्तिचंद्र सोनरिक्सा ने मेरी जो 'छवि' उतारी थी, उसे देखकर भी उन्होंने यही कहा था 'तुमने सच मुच विष्णु जी के भीतर के नाटककार की पकड़ा है'—यह आत्मश्लाघा

की वात नही है । उनकी गुणग्राहकता की बात है । वह गलत हो सकत हैं, पर बेईमान नही ।

बुद्ध जयन्ती का कायक्रम 'न भूतो न भविष्यति' था । दश भर म धूम थी । एक एक दिन मे कितने ही रूपक, सगीत रूपक और नाटक प्रस्तुत करने पडते थे । सवरे ही जाता और रात को ग्यारह बजे क बाद लौटता । उन दिनों न टेप थे और न रिकार्डिंग की इतनी सुविधा थी । लगभग सब कुछ सीधे प्रसारित होता था । हर क्षण चुनौती सामने रहती । हर क्षण महानिदेशक का आदेश आता अमुक बौद्धतीथ पर स्वय जाओ । अमुक तीथ पर अमुक को भेजकर रूपक तैयार करो । अमुक शिलालेख जाकर देखा ।

मुझे तक्षशिला जाने का आदेश था । लकिन पाकिस्तान न अनुमति नही दी । फिर भी मैं कल्पनालोक मे वहा गया और रूपक तयार किया । कालसी जाकर भी रूपक तैयार किया । भारत के अनेक साहित्यिक इस प्रकार अनायास ही भगवान बुद्ध की शरण मे पहुँच गए थे । दिन म जाने कितनी बार पुकारते बुद्ध शरण गच्छामि, सघ शरण गच्छामि, धम्म शरण गच्छामि ।' मैंने एक दिन महानिदेशक माथुर से निवेदन किया 'माथुर साहब, सब सुविधाएँ आपने दी हैं दो बातें और कर दीजिए ।

मुस्कुरा कर बोले, क्या ?

मैंने उत्तर दिया, हम सबके लिए एक एक कमण्डल और एक एक जोडा चीवर और मँगवा दीजिए ।'

व्यग्य समझकर उनकी मुस्कुराहट और बढ गई । पर इस जयन्ती की गाथा तो बहुत लम्बी है । माथुर साहब गद्‌गद थे । उतने ही गदगद वे तब थे जब सोवियत देश के तत्कालीन राष्ट्रपति बुलगानिन और प्रधानमन्त्री ख्रुश्चेव भारत की यात्रा पर आए थे । दिल्ली तो जैसे पागल हो उठी थी और उस पागलपन को बडी सुष्ठुता से रूपायित किया था आकाशवाणी ने । प्रत्येक छोटा बडा अधिकारी उसमे भागीदार था । वैसी भावना भविष्य क लिए दुलभ है ।

माथुर साहब के युग मे आकाशवाणी न वाणी के साथ आँखें भी पाई थी । आकाशवाणी क लोग हर क्षण रिकार्डिंग मशीन लिए घूमत और

जनजीवन को लेकर कार्यक्रम तैयार करते। 'आँखों देखी' कार्यक्रम उन्हीं मे एक था। उसके नाम को लेकर माथुर साहब कैसे चिन्तित रहे! मेरे कमरे मे सीधे फोन करते। श्रीरामचन्द्र टण्डन और मैं दोनो एक साथ बैठते थे। वही बात पन्त जी, दिनकर जी, नवीन जी और नये-नये नामों और नये नये कार्यक्रमों पर चर्चा करते। माथुर साहब ने प्रफुल्लित स्वर मे कहा था 'आप लोगो का कमरा एक क्लब की तरह होगा। साधक और साहित्यकार इकट्ठे होते होंगे साहित्यिक विषयो पर चर्चा होगी ।'

कैसे-कैसे अनहोन स्वप्न देख थे उन्होंने! कुछ तो उनके रहते ही नौकरशाही (ब्यूरोक्रेसी) की चट्टान पर चूर चूर हो गए। शेष उनके जाते-न-जाते तिरोहित हो गए। ज्वार पूरा होते न-होते भाटा आ गया। इसी गहमागहमी मे एक दिन मैं बस से गिर पडा। बहुत चोट आई। पर महानिदेशक माथुर घर पर फोन कर रहे हैं 'प्रभाकर जी, सवेरे ही मेरे साथ मथुरा चलना है। कुछ आवश्यक कार्यक्रम रिकार्ड करने हैं।'

मैंने उत्तर दिया, 'मैं तो घायल पडा हू। बैठ भी नही सकता।'

वे बोले, 'हम कार से चल रहे हैं।'

मैंने कहा, 'मैं नहीं जा पाऊगा, क्षमा करें।'

'नही जा पाएँगे ?' निराशा जैसे उनके स्वर मे साकार हो उठी।

फिर एक दिन बुला भेजा। बोले, 'मैंने कठपुतली के लिए नाटक लिखा है। उसे प्रदर्शित करने वाला दल भी स्टूडियो मे है। उसे देख लो और नाटक का शेष भाग स्वय पूरा कर दो।'

वह युग जितना उत्साह और गहमागहमी के लिए स्मरण रहेगा, उतना ही वर्जनाओ के लिए भी। आदेश आते साठ प्रतिशत नाटक हास्य-व्यग्य के होने चाहिए पैंतीस प्रतिशत सामाजिक और ऐतिहासिक, मनोवैज्ञानिक केवल चार प्रतिशत। त्रासदी कभी कभी और भूले-भटके ही। अश्लीलता, अवैध प्रेम और मद्यपान इन सबका आकाशवाणी मे प्रवेश वर्जित है।'

इन वर्जनाओ को लेकर बडी रोचक बहसें होती थी। तब प्रशासक माथुर और साहित्यकार माथुर दोनो एक-दूसरे से उलझ पडते। महानिदेशक की स्थिति दयनीय हो उठती। काश, कोई उस युग की फाइलो से ऐसी

टिप्पणियों को एकत्रित कर सके। मेरी स्थिति उस समय बडी विषम थी। क्या श्लील है और क्या अश्लील ? कौन सा प्रेम वैध है और कौन सा अवैध ? इश्क और शराब, ये शब्द डिक्शनरी से कैसे निकाले जा सकते हैं दिमाग इसी भवर मे फसा रहता। एक दिन मैंने केन्द्र-निदेशक से पूछा, 'प्रेम कब अवध होता है ?

उनका उत्तर था, 'जब वह पति पत्नी के बीच होता है।'

मैंने कहा 'वह तो अनुबंधित प्रेम है, और वास्तविक प्रेम साहित्य की तरह मानव आत्मा की ब धनहीन अभिव्यक्ति।

केन्द्र निदेशक हँसकर बोले, 'अनुबंधित प्रेम ही श्लील है बाकी सब अश्लील।'

मैंने महानिदेशक के दरबार मे गुहार की। उत्तर मिला बडा कठिन है निणय देना। बस आप बाल वृद्ध और वनिता का ध्यान रखिए। पात्र शराब पी सकते हैं, पर अन्त मे उसे उचित नही ठहराइए।'

प्रशासक माथुर ने साहित्यिक माथुर से समझौता कर लिया और मैंने अपना सिर पीट लिया। अनेक पूर्वप्रसारित नाटक वर्जित करार दे दिए गए। उनमे मामा वरेरकर तथा स्वय मेरे नाटक भी थे। अच्छे लेखक आकाशवाणी के लिए लिखने से जी चुराने लगे। पजाबी की सुप्रसिद्ध कवयित्री अमृता प्रीतम भी उन दिनो आकाशवाणी मे थी। मैंने उनसे निवेदन किया, मेरे लिए एक नाटक लिख दीजिए न।

मुस्कुरा कर वह बोली 'विष्णु जी, आप तो जानते ही हैं। मेरे पास तो केवल इश्क है और वही आपके यहाँ वर्जित हो गया है।'

इस त्रासदी का अन्त यही नही हुआ था। एक रात मगल या इसी तरह के किसी ग्रह को लेकर एक स्वैर कल्पना (फतासी) प्रसारित हुई। दो दिन बाद देखता हू कि एक महिला समीक्षक ने बडी कटु टिप्पणी की उस पर। लिखा मैं तो सुनकर पसीना पसीना हो आई। खिडकी खोलनी पडी साँस लेने को।

महानिदेशक माथुर ने उसे काटा। एक कागज पर चस्पा किया और लिखा, प्राड्यूसर ड्रामा शुड सी इट (नाटक निर्देशक इसे देखें)।

सयोग की बात, दूसरे पुरुष समीक्षक ने उस स्वैर कल्पना (फतासी)

की भूरि भूरि प्रशसा की थी। मैंने वह कतरन महानिदेशक की टिप्पणी के नीचे चिपका दी और लिखा, महानिदेशक कृपया इसे भी देखें।

तुरत कागज लौट आया, लिखा था, 'मेरा आशय आपके कार्य पर आक्षेप करना नही था। केवल सूचना देना था।'

मैंन लिख भेजा, 'बहुत बहुत आभार आपका। मैं भी सूचना ही दे रहा था।'

हमारे बीच मे कई सीढ़ियाँ थी पर वे कभी हमारे माग की बाधा नहीं बनी। प्रसिद्ध बगाली डायरेक्टर और अभिनता श्री शम्भु मित्र उन्ही दिनो अपन दल के साथ दिल्ली आए हुए थे। उनके नाटको की धूम थी। एक दिन महानिदेशक का एक विचित्र सन्देशा मिला, 'उनका एक नाटक रिकाड करके प्रसारित करो।'

मैंन कहा, 'रगमच का नाटक ध्वनि नाटक कैसे बनेगा ?'

उनका सुझाव था, 'प्रयोग करके देखिए तो।'

शम्भु मित्र ने चेखव के सुप्रसिद्ध नाटक 'एनीवरसरी' के आधार पर बगला मे दो दिन बाँग लोक्खी बैंके' प्रस्तुत किया था। उसी को मैंन रिकाड कर लिया। आकाशवाणी के वातानुकूलित स्टूडियो मे केवल अभिनेता ही होते हैं, पर यहाँ तो दशक थे, अतिरिक्त अभिनेता थे, पार्श्वकर्मी थे। वह नाटक जब प्रसारित हुआ, तब चित्र विचित्र ध्वनियो के बीच मूल नाटक की आत्मा खोजे नहीं मिलती थी। समीक्षक न लिखा 'रेडियो नाटक कैसा नहीं होना चाहिए, इसका यह सर्वोत्तम उदाहरण है।'

'पर प्रयोगधर्मी माथुर ऐसी टिप्पणिया से हतोत्साह हो उठें, तो साधक कैसे ? उन्होने विशेष रूप से श्री रमश मेहता का एक नाटक आकाशवाणी के प्रागण से मचस्थ कराया और वहीं से वह प्रसारित किया गया। वह प्रयोग एक सीमा तक सफल हुआ। फिर तो वैसे कायक्रमों का सिलसिला चल निकला। आज भी कभी-कभी दर्शको का हर्षोल्लास वातावरण मे गूज उठता है।

माथुर लगभग सभी नाटको को सुनते। उन पर चर्चा करते। प्रशसा करन म कजूसी उन्होन कभी नही की। फिर भी, मुझे लगता है वह अपन अनक रूपो के बीच सन्तुलन साधत साधत कभी-कभी लडखडा भी जाते

थे। प्रशासक अनुशासन के बिना काम कर नहीं सकता और साहित्यिक होता है फक्कड़। इसलिए, उनकी न्याय-तुला कभी इधर झुकती, कभी उधर। कुर्सी पर बैठकर सहज मानव बने रहने की वह जी जान से चेष्टा करते, लेकिन यह उनका दुस्साहस ही था। कुरसी अफसर के लिए होती है, आदमी के लिए नहीं। माथुर को मैंने नौकरशाह (ब्यूरोक्रेट) की तरह आदेश देते हुए भी देखा है। उनकी देहयष्टि नातिदीर्घ थी। जब वह अपने अधीनस्थ दीर्घकाय अफसरों को, माथे पर त्योरियाँ डालकर आदेश देते, तब मुझे नेपोलियन बोनापार्ट की याद आ जाती।

वे जितने मधुर और सौम्य थे, उतने ही कठोर भी थे। सब कुछ लिखा भी नहीं जा सकता। पर वह दृश्य मैं नहीं भूल सकता। आकाशवाणी के एक छोटे अधिकारी संकट में थे। अनुशासन भंग का आरोप था उन पर लेकिन वह साहित्यकार भी थे। महाकवि पन्त ने बड़े विनम्र शब्दों में माथुर साहब से उनके लिए सिफारिश की। सहसा फाइल से दृष्टि उठाकर बीच ही में टोक दिया माथुर साहब ने, पन्त जी, मुझे मालूम है उनकी बात। पर यह आपकी चिन्ता का विषय नहीं है। मैं जानता हूँ, मुझे क्या करना है।'

महानिदेशक के उस कमरे में तीसरा व्यक्ति मैं ही था। साहब इतने कटु भी हो सकते हैं, वह भी पन्त जी से और एक साहित्यकार को लेकर! निश्चय, यह अपराध कुछ गम्भीर रहा होगा। पर, वह स्वर मेरे अन्तर में कसक उठा।

एक दूसरे अफसर का केस भी लगभग ऐसा ही था। उनकी ओर से माथुर साहब के एक परम मित्र ने उनसे कुछ कहना चाहा। तुरन्त जवाब मिला, मैं जानता हूँ, वह मेरे विभाग में काम करते हैं पर आपका इस मामले से क्या सरोकार है?'

लेकिन ऐसे भी मामले हुए हैं जिनमें उनकी सहज करुणा मुखरित हो उठी है। उर्दू के जाने माने शायर सलाम मछलीशहरी उन दिनों मेरे साथ काम कर रहे थे। ज़िन्दादिल दोस्त थे पर शराब पीते थे बेइन्तहा। घर और बाहर में फर्क करना उन्होंने नहीं सीखा था। एक पब्लिक मुशायरे में शराब में धुत उनसे कुछ गुस्ताखी हो गई। दुर्भाग्य से भारत सरकार के

एक मुस्लिम मन्त्री भी वहाँ बैठे थे। उन्होंने शिकायत कर दी और बेचारे सलाम साहब का वेतन साढे पाँच सौ रुपये से सिकुड कर सम्भवत साढ़े तीन सौ रुपये रह गया। बहुत हाथ पैर मारे उन्होंने। मुझसे बोले, 'भाई साहब, माथुर साहब से कहिए न!'

माथुर साहब सब कुछ जानते थे। बोले, 'प्रभाकर जी, बेशक बेचारे के साथ अन्याय हुआ है। कुछ करूँगा भी, पर उन्हें भी तो ध्यान रखना चाहिए।'

सलाम क्या ध्यान रखते! शेरो शायरी और शराब का तो चाली-दामन का साथ है। लेकिन, माथुर साहब ने अवश्य ध्यान रखा। सलाम का वतन पाँच सौ हो गया। कुछ हानि ता आखिर उठानी ही थी। एक मन्त्री के सामन सावजनिक स्थान पर शराब पीकर हगामा किया था उन्हाने।

उन अट्ठारह महीनो म जिस जगदीशच द्र माथुर को मैंने देखा, वह एक अनुशासन प्रिय प्रशासक एक सहृदय साहित्यकार एक सच्चा देश भक्त, देश की सस्कृति म प्राण फूकनेवाला एक कला-साधक और सबसे ऊपर एक प्यारा दोस्त था। लेकिन, मेरे प्राण तो उस पिंजरे म छटपटा रहे थे। मरा त्यागपत्र कोई स्वीकार नहीं कर रहा था। एक दिन मैंने चुपचाप अपन सहयोगी श्री चिरजीत को प्रभार सभलवाया और भाग आया। माथुर साहब को सूचना मिली, तो उन्हान केन्द्र निदेशक से जवाब तलब किया 'आपन प्रभाकर जी को क्या जाने दिया? बुलाओ उनका।'

लेकिन मैं नहीं गया। उनका सन्देशा आया—'दिल्ली-केन्द्र मे मन नही रमता, तो डिप्टी चीफ प्रोडयूसर के पद पर मरे साथ चले आओ।'

मैं फिर भी नही गया। उन्होंने मुझसे कभी शिकायत नही की। हालाँकि मैं शिकायतें करता रहा और वह सहज प्रेम से उत्तर देते रहे।

नाटककार जगदीशचन्द्र माथुर दो कारणो से मुझे विशेष प्रिय रहे एक अपनी प्रयोगधर्मिता के कारण। मच की सूक्ष्म-स सूक्ष्म प्रक्रिया पर उनकी दृष्टि रहती थी। 'कोणार्क' उनकी कला का सर्वोत्तम उदाहरण था। उसमे एक भी नारी पात्र नही। फिर भी, मानवीय सवदन से ओत प्रोत है।

पर मजे हुए खिलाडी ही उसे मूर्त रूप दे सकते हैं। उनके एकांकियो म 'रीढ की हड्डी' और 'भार का तारा' बहुत प्रसिद्ध हुए। विशेषकर 'रीढ़ की हड्डी', जो आज के भारतीय समाज के घर घर की कहानी है। उनका रग शिल्प और उनकी भाषा दोनो आकृष्ट करते थे। लोकनाटको म उनकी सक्रिय रुचि और उनकी लोकप्रियता का सबसे बड़ा कारण थी। प्रात-प्रात की विशेषताओ को परखत व थकत नही थ। अपने शासकीय जीवन के प्रारम्भिक वष उ होंने बिहार मे बिताए। वहीं स उन्होंने लोककला का सहेजना शुरू किया, माना कि भारत की आत्मा उनकी लोककला म ही है। एक बार मैं केरल प्रदेश मे घम रहा था। जहाँ जाता, सुनता कि अभी अभी माथुर साहब भी आए थे। वे त्रिचूर म उस प्रदेश की बहुत पुरानी लोकशैली का मच देखने गए थे।

उनकी प्रिय वैशाली को मैंने देखा है। उसके प्राचीन गौरव का फिर से सचेतन करने का अद्भुत काय किया था प्रशासक माथुर न। इसी वैशाली से जुडे थे भगवान् महावीर, भगवान् बुद्ध, सम्राट बि दुसार और नगरवधू परमसु दरी आम्रपाली और प्रजात त्र के उपासक लिच्छवियो की क्रीडाभूमि भी तो यही थी। सात हजार सात सौ सत्तर प्रासाद, उतन ही कूटागार, आराम और पुष्करणियाँ, सभी को इतिहास क खँडहरो से खोज निकाला वैशाली सघ और वैशाली महोत्सव की नीव डाली। जब तक माथुर वहा रहे वातावरण गूजता रहा। वे के द्र म आए और बिहार म फिर स सब कुछ खँडहर बन गया। कई बष बाद उजडी हुई वैशाली की जब मैंन उनसे चर्चा की तो पीडा जैसे उनकी आँखो मे भर भर आई। बोले 'सुना तो मैंने भी है पर क्या कर सकता हू ?'

बिहार को कितना दिया माथुर साहब न ! एक ओर सस्कृति के भवन का निर्माण किया दूसरी ओर गाधी जी की बेसिक शिक्षापद्धति को रूपायित किया। वहाँ कि लाककला को सवारा। वशाली जनपद मे प्राण फूके। बिहार राष्ट्रभाषा परिषद् नवनाल दा महाविहार, वैशाली प्राकृत शोध प्रतिष्ठान, नतरहाट विद्यालय इन सबकी स्थापना म उ ही का हाथ था। इसी कायकुशलता और उत्साह न उनके विरुद्ध एक 'लाबी तयार कर दी थी। प्रदेश से के द्र तक उसका क्षेत्र था। वह 'कल्चर' से 'एग्रीकल्चर' म

भेज दिए गए। उन्हें शिक्षा विभाग में नहीं आने दिया गया। सूचना और प्रसारण मंत्रालय में भी उनका प्रवेश वर्जित हो गया। लेकिन, कृषि विभाग से होकर भी वे यूनेस्को तक पहुँचे। लोग उनका विरोध क्यों करते थे? क्योंकि वह साहित्य और संस्कृति की, लोकचेतना [illegible] और [illegible] संवेदना की बात करते थे। केवल यान्त्रिक प्रशासन, अर्थात 'बाबूशाही' [illegible] रहना उनके लिए सम्भव नहीं था। एक बार इसी सम्बन्ध में मैंने उनसे बात छेड़ी, तो उनके चेहरे पर करुण मुस्कान बिखर आई। आँख नीची किए अस्फुट स्वर में कुछ कहा और मौन हो गए। दर्द सहा जाता है, उसका बखान नहीं किया जाता। मैं जानता हूँ, अति उत्साह जैसी मानवीय दुर्बलताओं के बावजूद वह कितने महान थे। महानिदेशक के पद पर आते ही उन्होंने आदेश दिया था, 'जब तक मैं यहाँ हूँ, मेरे नाटक प्रसारित नहीं होंगे।'

इसका अर्थ मैं जानता हूँ। जाने कितनी संस्थाओं से वे जुड़े थे। कितने स्मरणीय कार्य उन्होंने किए थे। महानिदेशक के पद पर रहते हुए क्रान्तिकारियों के संस्मरण उन्होंने रिकार्ड कराए। वे आज इतिहास की सम्पत्ति हैं। केवल प्रशासक तो हिंसा अहिंसा का प्रश्न उठाकर उस बहुमूल्य सम्पदा को खो देता। प्रौढ़ शिक्षा का भी बहुत कार्य उन्होंने किया। संस्मरण लिखने में वे सिद्धहस्त थे। अपने स्तर और पद के कारण कितने महाप्राण व्यक्तियों, नाना क्षेत्रों के कितने विशेषज्ञों, शासकों, साहित्यकारों, कलाकारों, गायकों और साधारण कठपुतली का तमाशा दिखानेवालों से उनका गहरा सम्बन्ध रहा। इसका यत्किंचित प्रमाण मिलता है उनकी पुस्तक 'जिन्होंने जीना जाना' में। उनकी, अन्तस्तल को भेद देनेवाली दृष्टि और मानवीय संवेदना के कारण वे चित्र बहुत ही भावप्रवण हो उठे हैं। उनके सारे कार्य-क्षेत्र उनकी सहज मानवता से प्राणवन्त थे। उनकी शिशुसुलभ मुस्कान, उनका मुक्त सहज व्यवहार भुलाए नहीं भूलते। याद आता है जब राहुल जी होश गँवा बैठे थे, तब अनेक मित्र उन्हें देखने गए थे। माथुर भी आए उनसे मिलने। राहुल जी के लिए सब एकरूप थे। उनकी पत्नी उनकी बेटी बन गई थी। सहसा माथुर साहब उनके बहुत पास आकर बैठ गए। बोले 'राहुल जी, मुझे नहीं पहचाना? मैं जगदीशचन्द्र माथुर हूँ।'

राहुल जी ने करुणाविह्वल नेत्रों से उन्हें देखा। फुसफुसाए 'भैया! भैया!'

माथुर कहते रहे—'मैं तब बिहार में कमिश्नर था और आप जेल में थे। मैं आपसे मिलने गया था और अमुक-अमुक विषय पर चर्चा हुई थी।'

माथुर अतीत को कुरेदते जा रहे थे। हम वर्तमान में स्तब्ध-से खड़े थे। राहुल जी की तरल आँखें चमक रही थी 'भैया भैया, हाँ जेल में था। तुम आए थे। तुम माथुर हो न? हाँ, हाँ, जगदीशचन्द्र माथुर। भैया, बड़ी पुरानी याद दिला दी तुमने।'

माथुर साहब के चेहरे पर विजयोल्लास फूट पड़ा। राहुल जी कई क्षण सतृष्ण नेत्रों से देखते रहे। फिर यथापूर्व शून्यवत् हो गए।

जगदीशचन्द्र माथुर ने पश्चिमी उत्तरप्रदेश के एक छोटे-से नगर में एक शिक्षाशास्त्री के घर जन्म लिया। अपनी प्रतिभा के बल पर इण्डियन सिविल सर्विस में चौथा स्थान पाया। उनका कार्यक्षेत्र बना बिहार। वहां की शिक्षा और संस्कृति में नये प्राण फूंके उन्होंने। फिर महानिदेशक पद से भारत की समग्र संस्कृति को रूपायित करने की प्राणपण से चेष्टा की। वही माथुर साहब एक दिन चुपचाप चले गए। कितना काम पड़ा था अभी करने को! कितना किया, उसका लेखा जोखा कौन ले इस कृतघ्न संसार में जहाँ हर व्यक्ति चेखव के 'ढोंग-ज्वर' से पीड़ित है! वह नेक थे, इसलिए विरोधी पैदा कर लेते थे। हवा में ऊँची उड़ानें भरते थे, यह उनकी दुर्बलता थी। पर उतनी ही सचाई से धरती की बातें भी करते थे और उड़ानों को रूप देते थे। वह नेक ही नहीं, ईमानदार भी थे। और आज की दुनिया में विशेषकर भारत में ईमानदार होना खतरनाक है, क्योंकि ईमानदारी आदमी को बदनाम कर देती है!

जैनेन्द्र कुमार

दीपक सोने का हो या मिट्टी का, मूल्य उसका नही होता। मूल्य होता है उसकी लौ का, जिसे कोई अंधेरा अंधेरे के तरकश का कोई तीर ऐसा नही जो बुझा सके।

जैनेन्द्र जी भौतिक रूप म अब हमारे साथ नही रहे। पर जो लौ वे प्रज्वलित कर गए हैं उसे कोई अंधेरा कभी नही बुझा सकेगा। क्योकि उसम उन्होंन अपन जीवन का सत् उंडेला है। उस लौ का प्रकाश असख्य पथिको क पथ का आलोकित करता रहेगा।

उस लौ न मेरे पथ को कैसे और कितना आलोकित किया, उसका आकलन करना मरी शक्ति के बाहर है। और उसकी आवश्यकता भी क्या है? अपनो स कोई हिसाब करता है? उन्होंने मरी झोली मे बहुत कुछ उंडेला। पर मेरी झोली ही फटी निकली तो वे क्या करते?

आकाशवाणी न जब मुझे राजेन्द्र बाबू भाषणमाला के अतर्गत भाषण देने के लिए आमन्त्रित किया तो अध्यक्षता के लिए जैनेन्द्र जी से प्रार्थना की। तुरन्त उत्तर आया 'जहाँ विष्णु हैं, वहाँ मैं अवश्य आऊँगा।' और यह सच है कि मरे सन्दर्भ मे जब भी कोई सभा हुई, तो वे वहाँ थे। 'आवारा मसीहा' का लोकार्पण उन्होंने ही किया था।

पर क्या यह अचरज की बात नही है कि मेरे बारे म जब भी और जो कुछ भी उन्होंने कहा, उसका कोई ब्योरा मेरे पास नही है। मुझे कभी सूझा ही नही कि उन शब्दों को सुरक्षित रखू। मेरी पत्नी के देहावसान के बाद एक छोटा-सा लेख उन्होंने लिखा था। वह उनके अनुरूप ही था। उस लेख

मे सहज भाव से मेरे बारे में जो दो शब्द वे कह गए वे ही क्या मेरे लिए यथेष्ट नही हैं सौ वाट का बल्ब मजलिस को जगमगाहट दे सकता है। पर मन्दिर के घी के दीपक की लौ की शुचिता और मान्यता अलग ही होती है। सुशीला की सादगी भोलेपन की हद तक जा सकती थी, पर वह दिव्य सिद्ध हुई। और विष्णु प्रभाकर जी बन, साहित्य को जो बहुमूल्य दान दे सके उसमे उस समर्पिता नारी की सहजता का बहुत बड़ा भाग है।'

मैं चकित था कि मेरी पत्नी को इतना कैसे जान लिया उन्होने कि वे लिख सके प्रतिभाशालिनी महिलाएँ जीवन में कम नही मिली। पर उस स्नेहशीला सुशीला की स्मृति की स्निग्धता चित्त को विकल करने की जगह परम स्वस्ति और आश्वस्ति का भाव देती है।

मेरे प्रति उनके मन मे निश्छल स्नेह के अतिरिक्त और कुछ नही था। वे जानते थे कि मैं महान् साहित्यकार नही बन सकता क्योंकि द्वद्व मेरे मन में नही है। एक दिन वे मेरी कहानी पढ़कर यह लिख सकते थे बहुत-बहुत अच्छी मालूम हुई। मुझे ईर्ष्या होती है। इतनी सूक्ष्मता हिन्दी में तो देखने को नही मिलती। क्या मैं बधाई दूँ? तो दूसरे दिन यह भी कह सकते थे विष्णु, मुझे लगता है, तुम्हारी जिज्ञासा समाप्त होती जा रही है।' मेरी सर्वाधिक लोकप्रिय कहानी धरती अब भी घूम रही है' से चाची कहानी उन्हे कही अधिक पसन्द थी। उनकी मान्यता थी कि यथार्थ को पकड़ने मे नही बल्कि उसका अतिक्रमण करने में ही रचना महान् होती है। इस स्पष्टोक्ति का अर्थ मैंने समझा और सचमुच सजग हो उठा।

जब मैंने लिखना शुरू किया तब मैं पजाब में रहता था और मेरी रचनाएँ उसी दायरे में छपकर रह जाती थी। लेकिन जब मैंने व्यापक ससार में प्रवेश किया तो न जाने कैसे यह धारणा बन गई कि जैनेन्द्र विष्णु प्रभाकर के नाम से लिखते हैं। ढँढ मची कि यह छोटा जैनेन्द्र कौन है? था अज्ञेय ने तब मुझे सावधान रहने के लिए कहा और मैं सचमुच सावधान हो गया।

यह मात्र सयोग ही था या इसके पीछे कोई मनोविज्ञान था, पर यह सच है कि मैं हिन्दी साहित्य के दिग्गजो में से जिस एक व्यक्ति का सचमुच साहचर्य पा सका वह जैनेन्द्र ही थे। और यह साहचर्य मतभेद के बावजूद

'निरन्तर सघन होता रहा। एक बार तो बहुत नजदीकी रिश्ता जुडते जुडते रह गया, पर जो रिश्ता हम दोनो के बीच बना रहा, वह इन दुनियावी रिश्तो से बहुत बडा था। वह मन का रिश्ता था।

उनका पहला पत्र मुझे सितम्बर 1937 म मिला था। तब व प्रेमचद जी की मृत्यु के बाद 'हस' का सपादन कर रहे थे। मैंने एक कहानी उन्हे भेजी। उसकी स्वीकृति भेजते हुए उन्होंने लिखा, 'कहानी मिली। उसे काशी छपने के लिए भेज रहा हूँ। अपनी कहानी मे भावना की मुलायमियत थोडी कम भी हो जाने दे। और उसकी जगह 'परपज' का काठिन्य आ जाए, तो मुझे कहानी और भी रुचे। लिखते रहिए।'

आज लिखता है कोई ऐसे पत्र किसी नये लेखक को ? मन म उनसे मिलन की चाह बलवती हो उठी। अगले महीने दिल्ली आया और अपने बडे भाई साहब के साथ उनके निवास स्थान पर पहुँचा। कई क्षण सकोचवश हम जीने के नीचे खडे रहे। तभी एक महिला, जो श्रीमती जनेन्द्र थी, वहाँ आईं। साहस करके हमने उनसे पूछा, 'जैनेन्द्र जी यही रहते हैं ?'

वे बोली, 'जी हाँ ऊपर रहते हैं।'

'पर हम आगे कैसे चलें।' तब उन्होंने स्वय आगे बढते हुए कहा, आप झिझकते क्यो हैं, निस्सकोच चले आइए।'

इस चुनौती ने हमे बल दिया। ऊपर से कई व्यक्तियो के बोलने की आवाज आ रही थी। अदर प्रवेश करने पर मैंने देखा, एक बहुत छोटा सा कमरा है जिसके एक कोने मे एक मेज कुर्सी पडी है। चटाई पर कई व्यक्ति बैठे हैं। और बीच मे टहल रहा है एक इकहरे बदन और मझले कद का व्यक्ति, जिसने केवल बनियाइन और पजामा पहना है, और कधे पर डाला है तौलिया। यही जैनेन्द्र जी थे। मैंने प्रणाम किया, और उन्होंने बैठने का सकेत। साथ ही पूछ लिया, कहाँ से आना हुआ ?'

परिचय दिया मेरे भाई साहब ने। नाम सुनते ही जैनेन्द्र जी बोल उठे, 'यू राइट रिमार्केबली वॅल !'

एक नये लेखक से इस प्रकार का व्यवहार निस्सदेह अकल्पनीय लगेगा। उनसे मेरा यह पहला परिचय था। उनका व्यक्तित्व प्रथम दृष्टि

म प्रभावशाली नहीं कहा जा सकता था, पर उन्नत ललाट की छाया म क्षीण नासिका के आस पास अदर को दबे से दो नयन दिखाई दते थे और जो कही दूर झांकत स जान पड़ते थ, किसी को भी पकड लेने की उनम अदभुत क्षमता थी।

उसके बाद जो अलगाव मेरे मन म था, उसे न रखन का निमत्रण लेकर मैं लौटा। लेकिन इसम पहले मैं कुछ करन का साहस बटोर सकू, उन्होंने और भी गहरी आत्मीयता स उस निमत्रण को दोहराया। नवबर '37 के अतिम सप्ताह की बात है। शरतकालीन रात्रि के गहरे सन्नाटे और घन कुहरे से आच्छादित अपन छोटे से नगर की एक सुनसान गली म, मैं टिमटिमाती लालटन के सामने बैठा लिख रहा था। तभी सहसा उस सन्नाटे को आदोलित करता हुआ एक स्वर वहाँ गूज उठा 'विष्णु जी कहाँ रहते हैं ?' म कुछ चौका। पहली पुकार मैंने अनसुनी कर पर दूसरे ही क्षण वह स्वर फिर उठा मुझे भी उठना पडा। अधकार म स झाँककर मैंने पूछा, 'कौन हैं ?

सन्नाटे म वही स्वर गूजा, जैनेंद्र।

सुनते ही मेरे शरीर म ऊपर स नीचे तक सिहरन व्याप्त हो गई। किसी तरह अपने को सँभाल कर नीच दौडा। किवाड खोलकर फुस-फुसाया 'नमस्ते ! आप, इस समय ?

जवाब दिया 'हाँ, इधर आना हुआ। सोचा तुमसे मिलता चलू। कहानी पर से तुम्हारी गली का नाम पढा था।'

फिर ऊपर चढते चढ़ते पूछा बडा सन्नाटा है।

जी छोटा-सा शहर है। सर्दियो म रात जल्दी आ जाती है। फिर यहाँ तो बिजली भी नही है।'

वे वही मेरे पास फर्श पर बैठ गए। कितनी बातो का मुझे भी आज पूरी तरह याद नही। लेकिन मैंने देखा मेरा पैन जो खुला रह गया था, उसे उन्होन बद करके रख दिया। सामने की दीवार पर स्वामी दयानद और महात्मा गाधी के चित्र टँगे थ। उनकी ओर एकटक दखते हुए बोले, 'सफलता तब है जब लेखनी की शक्ति वाणी म आ जाए। लिखी हुई बात मे जितनी आतरिकता है, उतनी ही बोली हुई बात म हो तब सतोष हो।'

बाद मे उनमे जो प्रवचन देने की या प्रश्नोत्तर पद्धति को प्रोत्साहन देने की प्रवृत्ति पनपी, उसके मूल मे महत्वाकांक्षा की यही भावना रही थी।

जैसे-जैसे हम पास आते रहे हम दोनो के अन्तर्विरोध भी स्पष्ट होते रहे। मैं अच्छी तरह जानता था कि मैं उनके प्रखर चिंतन के छोर को भी नही छू सकता। फिर भी उनके प्रति मेरी जिज्ञासा का पार नही था। पत्र लिखता प्रश्न पर प्रश्न करता। पत्नी बच्चो को उनके हाल पर छोड़ देने के प्रश्न के उत्तर मे उन्होंने लिखा, 'क्या मैं समझूँ कि अब अपना अथवा स्त्री पुत्र का भरण-पोषण मैं कर रहा हूँ। ईश्वर नही कर रहा है। मैं अपने आप मे जैसे कुछ भी अर्थ रखता हूँ। अब भी मुझको सबको स्वतंत्र समझना चाहिए। इसे ईश्वर के भरोसे पत्नी और बच्चो का स्वतंत्र छोड़ने का भ्रम मात्र, तब इसमे हिचक न हो सकेगी। यह तात्विक बात है। लेकिन इन सब बातो का मौका तो तब हो जब मैं छोड़ने का तुल ही पड़ा होऊँ। अभी तो उतनी ऊँची स्थिति मेरी नही है।' (9 जनवरी 1938 का पत्र)।

सन् 1939 मे उन्होंने दिल्ली मे हिंदी परिषद का आयोजन किया था। एक बंधु जो हृदय रोग से पीड़ित थे, अचानक अस्वस्थ हो गये। उस समय केवल मैं ही उनके पास था। मैंने तुरत जैनेंद्र जी को सूचना भेजी, पर वे नही आए। सौभाग्य से आक्रमण साधारण था। वे बंधु इस योग्य हो गए कि मैं उन्हे उनके घर छोड़ आ सकता था। लौट कर मैं तुरत जनेंद्र जी के घर गया और किंचित आवेश मे पूछा, आप क्यो नही आए?'

वे बोले, 'मैं आता तो क्या करता। करने वाला तो भगवान था। फिर तुम तो थे ही।'

तर्क अपने स्थान पर ठीक हो सकता है, पर दुनिया क्या इस तर्क से आश्वस्त हो सकती है? आदर्श की ऊँचाई के पीछे छिप कर छुट्टी नही पाई जा सकती। इसीलिए सब गड़बड़झाला है। व्यवहार और आदर्श मे अंतर है, पर इसके लिए क्या उन्हे दोष देना होगा। उन्होने मुझसे कहा था, 'मनुष्य को दोष देने का नहीं दोष स्वीकार करने का अधिकार है। असाध्य आदर्श की साधना तपस्या है। और तपस्या मे पतन की गुंजाइश अधिक रहती है। पर इसी कारण जो तपस्या से डर कर बैठा रह जाए उस अभागे

से तो गिरने वाला बहुत बड़ा है।

आवश्यक नहीं कि हम मन उनसे सहमत हों, पर जब बातें शुरू होती थीं तो उस समय दब जाता था। एक दिन शीत ऋतु में मैं अपने बड़े भाई के साथ सवेरे 8 बजे उनके घर गया और सन्ध्या के 8 बजे तक हम सब फर्श पर दीवार से पीठ टिकाए बातें ही करते रहे। मामीजी (हम लोग जैनेंद्रजी को मामाजी और भगवती देवी को मामीजी कहते थे) पहले चाय रख गई। दोपहर का भोजन और 5 बजे फिर चाय। मन ही मन खीजी होंगी ये कैसे लोग हैं ! बातें ही बातें, ठहाके और कहकहे ! और कोई काम नहीं ।' मैं कम बोलता था सोचता अधिक था।

जैनेंद्र की कलम में जो तथाकथित जटिलता दिखती है वह तो इसी दुनिया की गड़बड़ है। सब गड़बड़ ही गड़बड़ है। सृष्टि गलत, समाज गलत जीवन ही हमारा गलत। सारा चक्कर ऊटपटाँग। बेचारा साधारण पाठक तभी उलझ कर रह जाता है। मुझे लगा, जैनेंद्र को समझने के लिए शब्दों की धारा में मुक्त होना होगा।

वे बातें करते ही नहीं, बनाते भी खूब थे। हिन्दू कालेज की सभा में मैं उपस्थित था। वे सभापति थे। भाषण देने खड़े हुए। माँग हुई, भाषण नहीं कहानी सुनाइए।

जवाब मिला, कहानी सुनोगे तो सुनो।

और उन्होंने सचमुच कहानी सुनाई, पुरानी किस्सागोई शैली में। उनका और मामीजी का कोई झगड़ा था। देर से आने और समय पर भोजन न करने का झगड़ा। अपनी अकर्मण्यता का रस ले लेकर वह वर्णन किया कि सारी सभा देर तक अट्टहासों से गूँजती रही।

प्रश्नों के उत्तर भी वे उसी सहज भाव से देते रहे हैं। मेरे एक प्रश्न के उत्तर में उन्होंने लिखा, 'मैं मानता हूँ कि यदि व्यक्ति खाना खाता है तो शारीरिक श्रम उसके लिए जरूरी है। यह ईश्वरीय कानून समझिए। ईश्वरीय से यह अर्थ है कि इसके प्रयोग से आदमी बच नहीं सकता। खाना बे महनत मिल जाता है और इसलिए कोई श्रम से बच जाने की सोचे तो भूल है। इसका दुष्परिणाम उसके जीवन में जरूर दिखाई दे जायेगा।'

उन पर हमला होता था, पर वे उग्र नही होते थे । बदला वे लेते थे, पर प्रत्याक्रमण की मुद्रा मे नही । 'शनिवार समाज' की एक बैठक मे उन पर एक लेख पटा गया । काफी आक्रामक था । वहुत आग्रह करने पर उन्होंने इतना ही कहा, 'इस लेख म मैंने अपने चेहरे को ता देखा ही, पर साथ ही आलोचक चेहर को भी ।' आलोचक यदि अपने लेख म रह जाता है, तो उसका अध्ययन विषयगत न रह कर आत्मगत हो जाता है । उसे यह अधिकार नही है ।'

खूब याद है यह सुनकर पूरी सभा की दृष्टि आलोचक के चेहरे पर स्थिर हो गयी थी और व अपना बचाव करने म असमर्थ बुरी तरह छट पटा रह थे ।

उनक शरीर म मस्तिष्क का आधिपत्य रहा है इसलिए उनम प्रखरता खूब थी । उनके शब्दा के दीखने वाले अर्थ के पीछे जो सत्य छिपा रहता है वह सुनने वाले को निरुत्तर ही नही करता, प्रभावित भी करता है । न जाने कसे एक बार रेडियो स्टेशन पर उनकी नियुक्ति की चर्चा चल पडी । मैंने पूछा, 'क्या सममुच आपकी नियुक्ति हो रही है ?'

वे बोल, 'ऐसा हा ही नही सकता ।'

'क्यो ।'

'क्योंकि हम रेडियो मे जायेंगे नही, रेडियो पर हमे कोई बुलायेगा नहीं, क्योकि रेडियो रेडियो है, हम हम हैं ।'

इसी तरह एक बार कुछ मनचले मित्रो ने भरी सभा मे उनसे पूछा, 'आप शराब क्यो नही पीते ? क्या दोष है इसमे ?'

सभा सभ्य लोगो की थी और सभ्यता प्राचीन न थी । जैनेंद्र ने बिना झिझके उत्तर दिया, 'दोष शायद यही है कि उसका नशा उतर जाता है ।'

लेकिन क्या जैनेंद्र मात्र भाषा और विचार ही थे ? वे साधारण मनुष्य भी थे । ऐस साधारण कि जिनके भीतर सदा एक किशोर बैठा रहता है । सन् 1938 मे मेरा विवाह हुआ था । बारात म प्रभाकर माचवे, नेमिचद्र जैन, यशपाल जैन आदि के साथ जैनेंद्र जी भी थे । माग मे रुडकी के पास नहर के किनार रुकने की व्यवस्था थी । मस्ती का आलम था । उसी मस्ती मे उस पार पत्थर फेंकने की प्रतियोगिता शुरू हो गई । देखता हूँ कि

जैनेंद्र सबसे आगे हैं। यही नही, वे सिद्धहस्त तैराक भी थे और उतनी ही तेजी से साइकिल भी चला लेते थे। उनकी दार्शनिकता और सादगी के पीछे झाँकने पर ही उन्ह पहचाना जा सकता था। एक बार एक बधु ने किसी का शाल ओढ़ लिया। तुरत बोले, 'आपको यह शाल खूब सजता है, खरीद लो न।'

दूसरी बार एक मित्र उनके पास आए कि वे उनके साथ चन्दे के लिए चलें। पूछा, 'कितन चदे की बात है?'

रकम कुछ बहुत नही थी। वे बोले, 'मुझसे दस बीस की क्या बात करते हैं। हजार दस हजार की करिए। तब मैं चल सकता हूँ।'

ऐसे ही एक बार मेरे सामन किसी प्रसग मे उन्होंने कहा, 'क्या बताऊँ सेकड क्लास मे यात्रा करने की आदत पड गई है। यह तब की सेकड क्लास थी। बाद मे तो वे वायुयान की बातें करत थे। यह अस्वाभाविक नही है। उनकी सादगी के पीछे जो महत्वाकाक्षा छिपी थी उसी की झलक दे जाती थी ये घटनाएँ, लेकिन वैसे वे जीवन भर दो कमरो के उसी मकान म रहते रहे। और उनकी शक्ति बनी रहीं उनकी पत्नी। वे न होती तो जैनेंद्र जैनेंद्र न होते।

एक दिन वह जैनेंद्र की होकर इस घर मे आई थी पर शीघ्र ही जैनेंद्र उनके होकर रह गये। वह बन गई उनकी रक्षक दूत। जनेंद्र जी रह गये मात्र उनके आश्रित जन। सोचता हूँ कैसे खीची उन्होने गहस्थी की गाडी दो असम पहियो को लेकर। जनेंद्र जी अपनी गरिमा का पहिया बनान को कभी तयार नही हुए।

कितना प्यार करती थी व हम सबको। सभी को परिवार का सदस्य मानती थी। कितना काम करती थी। बरतन माँजती चक्की पीसती। लेकिन सवेरे सैर करना कभी नही भूलती। जनेंद्र जी अनियमित थ पर वे घडी की सुइयो की तरह नियमित थी कभी अकेली कभी सहेलियो के साथ। कई सस्थाओ से जुडी थी। जनेंद्र जी की बात चलती तो हस पडती अपने ग्रामाजी को तो तुम जानते ही हो, जैसे हैं ।'

मेरी पत्नी भी मेरे साथ रहती। दो चार दिन नहा दिखी तो बोली, सुशीला कहाँ है?'

मैंने कहा, 'अब वह कहती है कि उमर बड़ी [illegible] नहीं जाती [illegible]
'कल साथ लेकर आना अच्छा।'

वह आई तो अपना डंडा उठाकर कहा, '[illegible] पूछा [illegible]
रही है? मेरे सामने तो कह। कल से जरूर आना [illegible]

और फिर दोनों घर-गृहस्थी की दुनिया में डूब गये। अचानक हृदय गति बंद हो जाने से उनका देहावसान हो गया। मैं तब दिल्ली में नहीं था। लौटा तो तुरंत जैनेंद्र के पास गया। उन्होंने मुझे देखा तो तुरंत छाती से चिपका लिया। एक शब्द नहीं बोले हम। उस मौन आलिंगन ने कितना कुछ कह दिया। उसे मैं अनुभव ही कर सकता था । उनकी कहानी 'पत्नी' का केंद्रबिंदु वे ही तो हैं।

उनकी माताजी का परिचय न दिया जाय तो उनकी पहचान अधूरी रहेगी। उनके प्रारंभिक जीवन के संघर्ष में वे और उनके भाई सुप्रसिद्ध चिंतक और स्वतंत्रता सेनानी महात्मा भगवानदीन ही तो उनके संबल रहे थे। बात संभवतः 1930 की है। मैं तब हिसार में रहता था। छुट्टी का दिन था, आराम से बैठक में बैठा एक उपन्यास पढ़ रहा था कि एक प्रौढ़ महिला ने बिना किसी संकोच के वहाँ प्रवेश किया। लंबा कद, धवल वस्त्र गौर वर्ण और मुख पर मृदु मुस्कान। किसी उद्देश्य के लिए अपने को अर्पण कर देने वाली भिक्षुणी की तरह वे मुझे लगीं। उनके व्यक्तित्व में जो माधुर्य छिपा हुआ था, उसने मेरे किशोर मन को दुलारा। उनके हाथ में एक रसीद बुक थी। किसी महिला संस्था के लिए चंदा माँगने आई थीं। जब तक गृहस्वामी अंदर से पैसे लेकर आए, तब तक वे मुझसे बातें करती रहीं। उन्होंने पूछा, 'क्या पढ़ रहे हो?'

मैंने उपन्यास का नाम बता दिया। चतुरसेन शास्त्री का उपन्यास 'हृदय की परख' था वह। वे बोलीं—'परख पढ़ा है तुमने?'

'जी नहीं किसने लिखा है?'

'जैनेंद्र कुमार ने।'

'अच्छी पुस्तक है?

उस पर हिंदी अकादमी से पाँच सौ रुपए का पुरस्कार मिला है।

मैंने सोचा, जिस पुस्तक को पुरस्कार मिला है, वह अवश्य अच्छी होगी। मैंने कहा, 'आप मुझे उस पुस्तक के मिलने का पता बता दीजिए। मैं जरूर पढ़ूंगा।'

पता तो उन्होंने बताया ही, लेकिन यह भी बताया, 'जैनेंद्र मेरा बेटा है।'

ये शब्द कहते हुए उनका सारा अस्तित्व उल्लास से भर उठा। उनके नेत्रों से झरते हुए वात्सल्य ने मुझे पुलकित कर दिया। मुझे खूब याद है कि तब मेरे मन में एक विचार उठा था, 'क्या मैं भी जैनेंद्र जैसा बन सकता हूँ ? लेकिन तब मैं यह कल्पना भी नहीं कर सकता था कि एक दिन मुझे इन्हीं जैनेंद्र के इतने पास जाने का सौभाग्य प्राप्त होगा।

जीवन के उन यातना भरे अंतिम दिनों में कई बार उनको देखने गया। उनकी दृष्टि से साक्षात्कार हुआ, जो ऊपर से अबूझ पर अंदर से हृदय को चीर देने वाली थी। उनकी वाणी भी सुनी, जिसमें शोर था, पर आवाज नहीं थी। हां, एक अव्यक्त पुकार थी। एक दर्द भरी पुकार, जिसे सहना कठिन हो जाता था।

अंततः उस पुकार को मनुष्य की सबसे प्रिय मित्र मृत्यु ने ही सुना और उन्हें यातना से मुक्त कर दिया। कहते हैं कि जो व्यक्ति अपने अंतिम दिनों में इस संसार में बहुत कष्ट पाते हैं वे अपने पापों का दंड यहीं भोग लेते हैं, उसे लोक में वे आनंद से भी रहते हैं।

मैं उस लोक के बारे में कुछ नहीं जानता। मन को समझाने के लिए न जाने कितने शास्त्र रच डाले हैं धर्मभीरु मनुष्य ने! मैं तो तब उनकी शवयात्रा में जाने वाले सभी मित्रों के साथ यही देख रहा था कि ठीक समय पर विद्युत शवदाहगृह की भट्ठी का द्वार ऊपर उठा और अंदर उठती रक्तवर्ण लपटों ने उनके भौतिक शरीर को अपने में समेट लिया। द्वार फिर बंद हो गया। एक कहानी समाप्त हो गयी।

पर कहानी क्या कभी समाप्त होती है ? एक में से एक कहानी निकलती है और यह क्रम कभी टूटता नहीं। लौटते समय ऐसे ही अटपटे अनगढ़ विचार मस्तिष्क में उठ रहे थे, बीच-बीच में उस व्यक्ति का चित्र आँखों में उभर आता था, जो संघर्षों में पनपा, जिसने कभी तूफानों की

चिंता नही की। जो सदा विवादास्पद बना रहा, लेकिन जिसे कोई भी आक्रमण विचलित न कर सका। अपने सारे पाप पुण्यो के साथ उसन अपना सिर सदा ऊचा रखा। जान वाले लौटकर नही आते, उनकी याद आती है। याद दद भी देती है और पवित्र भी करती है।

लेकिन अपने पीछे जैनेंद्र जो विपुल साहित्य छोड गये हैं, यह हम मात्र दद और पवित्रता तक ही सीमित नही रखेगा, हमारे चिंतन को धार भी दगा, और यह सीख भी कि जो हमारा निजी है, वही अमर हो सकता है। इसीलिए अपनी सभी विसगतियो क साथ वे अमर हैं।

2

हम शब्दो की कारा से मुक्त करनेवाला स्वय देहमुक्त हो गया। हिंदी साहित्य का एक और शिल्पी इस धरती पर अपनी छुट्टी समाप्त करके अपन असली घर चला गया। रवि ठाकुर न गाया है न अब और मरा नाम न लेकर पुकारो मुझे, मेरा जान का समय हा गया। मुझे जल्दी जाना होगा।' लेकिन जैनेंद्र जी को जाते-जाते दो वष लग गये। उतन समय म उन्ह जिस मौन यातना मे से गुजरना पडा, वह उनके लिए ही नही, उनके प्रियजनो के लिए भी कष्टकर थी। चक कवि मीर्जी बोलकेर न मत्यु से कुछ दिन पूव एक कविता लिखी थी 'मृत्यु से डर नही, मृत्यु भयकर नही है। बुरी नही। केवल एक कठिन जीवन का एक भाग है। हाँ, एक बात कष्टप्रद है, अर्थात मरणोन्मुख होना।'

ठीक यही बात जैनेंद्र जी अपनी शब्दहीन भाषा मे, अपने हर मिलन आनवाले प्रियजन से कहते थे, क्योकि व जानते थे कि प्रिय व्यक्ति का मरते दखना स्वय मरने स कहीं अधिक कठिन और दुखप्रद है।

जैनेन्द्र कभी किसी से नही जुडे। वे पूणरूपेण स्वतन्त्र चिन्तक थे, फिर भी वे यदि किसी के सबसे अधिक पास थे, तो गाधी जी के थ और गाधी जी मानते थ कि मृत्यु मनुष्य की सबसे प्रिय मित्र है। अतत उसी मित्र न उन्हें यातना स मुक्ति दी। तब उनके जाने का कैसा दुख और कैसा माह? और वे गये भी कहाँ हैं? मृत्यु ने मात्र पीडा भोगनेवाली देह से ही ता मुक्त किया है उन्हें। जा असली जैनेन्द्र है, जो सर्जक है वह तो

अपने रचना ससार मे रचा वसा है । उसी को हम जानते और मानत भी थे । उसी स बोलते वतियाते थे, और लडत झगडते भी थ, उनस अधिक विवादास्पद व्यक्ति, उनसे प्रखर मौलिक चितक ढूढना बहुत कठिन है। मत्यु ने तो उह हमारे और पास ला दिया है। अव उह ढूढने हमे कहीं बाहर नही जाना होगा । जब चाहेगे, जहाँ चाहेगे, उनमे मुलाकात कर लेंग ।

इसी विवादास्पद और मौलिक चितक होने मे ही उनकी महानता की कुजी है । एकसाथ प्यार और तिरस्कार पाने के लिए हिया चाहिए। यह हिया सही मायनो म गाधी और शरत जसे महाप्राण पुरषो म होता है। जैनेद्र उसी श्रेणी के एक अकिंचन व्यक्ति थे ।

उनका कायकाल मन 1928 स 1986 तक फैला हुआ है । व प्रेम चद के समकालीन ही नही थे, उनके अतरग भी थे। महात्मा गाधी, एम० एन० राय जाकिर हुसैन और भगवान दास जसे महापुरषो और मनीषियो के वे आत्मीय बनकर रहे, पर कभी भी उहोन किसी का अनुकरण या अनुसरण नही किया। किसी से कभी बँधे नही । हर क्षेत्र म अपनी निजी पहचान बनायी । अपनी मौलिकता को अक्षुण्ण रखा और हमे चितन की एक अछूती भाषा दी । उहोने कुछ भी गढा नही । न विचार न भाषा, न शिल्प सब कुछ सहज, प्रखर अटपटा और सोचने को विवश करनेवाला, अदभुत मेधा थी उनमे। उनको प्यार करनेवालो की थाह नही थी । घणा करने वाले भी कम नही थ। यह हर मौलिक चिंतक की नियति होती है ।

उनकी त्रासदी मात्र इतनी थी कि वे मन वचन और कम से अहिंसक थे। पर वैसे ही महत्वाकाक्षी भी थे। इनके बीच म सतुलन साधना कितना दुष्कर है । यही द्वद्व उनकी सफलता का कारण था । और यही असफलता का भी—यदि उसे असफलता कहा जाये तो । क्योकि जाहिर मे तो उह खयाली दुनिया मे डूबा रहन वाला निठल्ला व्यक्ति ही कहा जाता रहा ।

वास्तव म ऊपर से दीखन वाले अकमण्य दाशनिक क भीतर सदा एक चचल किशोर छिपा रहता है । साधारण से ऊपर उठन वाले हर व्यक्ति की वह प्राणदायिनी शक्ति होता है । ऐमा न हो तो व्यक्ति निरा सवप्न-

शील ठूंठ बन कर रह जाए। और जैनेन्द्र साहित्य के क्षेत्र म आनवाले नवागतुको को कैसे और कितना प्रोत्साहित करते थे, यह मैंने सन 1937 म अपन सदभ म अनुभव किया था और अविश्वास से हतप्रभ रह गया था। सन् 1986 तक, जब तक उनकी वाणी सुरक्षित रही, वे नये आनेवालो का वैसा ही सहज प्यार देते रहे और उनकी रचनाशीलता का आधार बने रहे।

उनके जीवन मे द्वद्व था और वे मानते भी थ कि द्वद्व के बिना साथक सजन नही हा सकता। उसे शब्दातीत होना होता है, शब्दातीत होना ही शब्द की कारा से मुक्त हाना है।

गुजराती के प्रसिद्ध लेखक मकरद दवे न अपने लेख 'शब्द सत्य, शब्दातीत सत्य' म स्पष्ट लिखा है—'श्री कष्ण यह अच्छी तरह जान गये थे कि पाडवा पर शब्दो का कितना जबरदस्त बधन है, और महाभारत के युद्ध मे प्रत्यक विकट प्रसग पर उन्होंने यह बधन भेद डाला। श्री कृष्ण का स्पष्ट दशन है कि सत्य और धम शब्दो मे कैद नही हो सकते।'

जैनेन्द्र जी न अपन साहित्य म इसी सत्य की पुनर्व्याख्या की है। यथाथ का अतिक्रमण करके सत्य को खाजने का प्रयत्न किया है। उनके साहित्य के मूल म नारी है। वह शरत की नारी से उन्ही अर्थों मे भिन्न है, जिन अर्थों म उन दोना का युग और परिवश भिन्न है, लक्ष्य एक ही है। जैनेन्द्र जी की नारी की 'परख' स 'दशाक' तक की यात्रा इसी शब्द की कारा से मुक्ति की छटपटाहट की प्रयाग यात्रा है। अद्धनारीश्वर की कल्पना को रूप देन की यात्रा है।

साहित्य की चर्चा करते हुए एक बार उन्हान मुझसे कहा था, 'धम विचार म मैं सैक्स और अथ इन दोनो को ही मनन और अन्वेषण का विषय मानता हूँ। पौधो के दो भागो की तरह सैक्स जड की भाति धरती के भीतर फलता है और अथ पत्र-पुष्प के समान धरती के ऊपर फैलता है।'

उनके जीवन म जो जटिलता दिखाई देती है, उसका कारण इन शब्दो मे निहित है जैनेन्द्र जी मन, वचन और कम से अहिंसक हैं और महत्वाकाक्षी भी। दोना का साधना असभव सा लगता है पर जो साध

सकता है, उसके कोश म असभय शब्द नही होता, इसलिए वे युद्ध म सदा निडर और तूफान म सदा अडिग रहने का प्रयत्न करते हैं।'

जनन्द्र जी की दृष्ट आज हमारे सामने नही है, इसलिए हम इस छट पटाहट को शायद और अधिक स्पष्टता से देख सकेंगे। मतभेद तब भी रह सकता है। पर यह छटपटाहट ता हमारी खोज-यात्रा म हमारा सबल ही बनेगी। समय निर तर गतिमय है। तब शब्द कैसे स्थिर रह सकता है? वह अथ स विलग होकर जड ही रहता है। ऐसे जड शब्दो से जीवन भर कस जुडे रह सकते हैं हम? और कैसे युगानुरूप कतव्य को भूल सकते हैं? सजक अर्थ का सृष्टा है, शब्द का नही। इस सत्य का पहचानने के लिए ही हम विवेक दृष्टि मिली है। नीति अनीति और धम अधम के ठहरे हुए अथ से ऊपर उठने की विवेक दृष्टि।

सजक इस सत्य का पहचानता है नही तो वह सजक नही है। जैनन्द्र न लिखा है— साहित्यिक (अर्थात सजक) आपके खयाल की दुनिया को साफ रखता है। दूरदर्शी पहले यह देखता है कि खयाल की दुनिया म क्या होता है। जो वास्तव मे और घटना की दुनिया मे घटता है, वह पहले हमेशा खयाल की दुनिया म हो चुका होता है। क्राति जहाँ भी हुई, पहल मन मे हुई।' और मन का अधिष्ठाता देवता साहित्य है। इसीलिए जनेन्द्र ने कहा, आपको तो यह देखना है कि क्या लेखक आपम कोई प्रतिध्वनि उठाता है? आपको निकट खीचता है? यदि हाँ तो वह साहित्य का पात्र है वह अपना सुख दूसरे को देता है। दूसरो का दुख माँगता है। साहित्यकार जायदाद नही माँगता दूसरे के दुख को ही बाँटता है और निरन्तर अपना दान देता रहता है। इसी मे उसकी सफलता है।'

जनन्द्र आधी शताब्दी से ज्यादा समय तक यही दान देते रहे अपने वाले शब्दो के द्वारा कि शब्दो की कारा स मुक्ति म ही मानव का भविष्य है। उन्होंने न गाधीवादी होने का दावा किया न सूक्ष्म मनोविज्ञान का चितेरा होने का। स्थूल स सूक्ष्म की यात्रा उनकी निजी यात्रा है। उन्होंने जो कुछ सुझाया अपने निजी चिन्तन क आधार पर सुझाया। विवादास्पद होने के बावजूद आज न सही कल उनकी गणना इस सदी के मौलिक विचारको के रूप मे की जायेगी।

जीवन क्या है ? वज्ञानिक, दाशनिक, शासक, व्यापारी और सजक न जाने कब से कैसे-कैसे उत्तर देते आए हैं इस प्रश्न के। अभी-अभी देहमुक्त जैनेन्द्र की याद करते मुझे लगा कि जीवन बस नर नारी के सम्बन्धों की खोज है। आप मुझे पागल की सज्ञा दे सकने को स्वतन्त्र हैं पर, मुझे लगता है धम, अथ, काम और मोक्ष सब इन्ही दो शब्दो के आधार पर अपना अस्तित्व प्रमाणित करत आए हैं।

जनेन्द्र के सम्बन्ध म यह विचार कैसे उभरा ? व मेरे बहुत निकट थे। प्रतिभा मे नही, मात्र मानवीय सम्बन्धो के कारण। उन्हें पढा भी, देखा भी, सुना भी बहुत उनके बारे मे। कडवा, मीठा, चटपटा और उन्हे छोटा से छोटा प्रमाणित करन वाला भी। दोषारोपण और प्रत्यारोपण की कला म भारतवासियो को कोई नही हरा सकता। इस क्षेत्र मे प्रभु (यदि वे कही हैं) की उन पर बडी कृपा है।

पर हम अभी थाडा इस कुहासे को किनारे रख कर, कुछ उनके भीतर झाँकने की धृष्टता करना चाहते हैं। है तो यह दुस्साहस और हम यह भी जानते हैं कि हम कही पहुँच भी नही पायेंगे। कोई कभी पहुँचा ही नही क्योकि अभीष्ट पहुचना नही होता पहुँचने का प्रयत्न होता है। यह प्रयत्न ही सत्य है, शेष सब मिथ्या है, झूठ नहीं, मिथ्या।

जैनेन्द्र हम इसी राह क राही लगे। जीवन भर अपने आलस्य और अपन सपनो के बावजूद वे निरन्तर खोज करत रहे, नर नारी के सम्बन्धो की खाज यानी जीवन की खोज। परख की कट्टो से लेकर दशाक की रजना तक। यह खोज उन्हे भटकाती रही। दशाक उनका अन्तिम उपन्यास है, उनकी खाज की सीमा। वे सफल हुए या असफल यह बात अथहीन है। अथवान है बस खाज की निरन्तरता। यही सत्य है, यही सृष्टि का रहस्य है।

लेकिन यह खोज मात्र फाम (ढाँचे) की नही है। ढाँचा तो कथा को रूप देन के लिए है। खोज प्यार और पैसे की सही शक्ति की है यानी नर नारी के सम्बन्धो का आधार प्यार है या पैसा। यही खोज लेखक को

घर से विश्व तक ले जाती है। प्रेम का केन्द्र घर है। वही से अपनी परिधि पर घूमता हुआ वह समस्त विश्व को अपनी व्याप्ति म ले लेता है। नारी का नाना रूप, बहुआयामी शोषण इसी पैसे के कारण है। वसे ही अधिक से अधिक सम्पन्न और शक्तिशाली होने की लालसा विश्व की शक्तियो म धरती स हटकर आकाश पर काबिज होने की स्पर्धा पैदा कर रही है। उसका परिणाम हमारे सामने है।

इस उप यास के सम्ब ध मे श्री गोविन्द मिश्र न लिखा है, ''दशाक' को पढ कर एक सुखद अनुभूति यह हुई कि कैसे रचनात्मकता विधागत मीमाओ को ताड कर उस रास्ते चलती है जिसस वह जाना चाहती है। जो दशाक' को सिफ उपन्यास मान कर पढेंग उन्ह निराशा होगी, होती है। गोकि उपन्यास क्या है यह मुझे भी नही मालूम। प्रमुख औपन्यासिक तत्त्व तो है यहाँ, रजना का घर छाडन स घर वापस आने तक का एक बारीक कथा तन्तु '

हम श्री गोविन्द मिश्र से सहमत हैं। दशाक उपन्यास है ही नही, मनोरजन के प्रचलित अर्थों म तो कभी भी नही है। रजना प्रतीक है, उस प्रतीक म गुथी हुई है अद्धनारीश्वर की कहानी जिसके अथ भूल कर हम भटक रह हैं अविचार के मरुस्थल म। तब क्यो न हम दशाक को विचार प्रधान उपन्यास मान कर चलें। तभी सम्भवत उनकी वैचारिक यात्रा पाठक के अ तर म कुरेदना अर्थात् तलाश की व्यग्रता पैदा करगी। क्योंकि उपन्यास का जो प्रतिपाद्य है उससे शायद ही किसी की असहमति हो। लेखक के सामन स्वस्थ समाज की एक परिकल्पना है। उसी को शब्दो मे रूपायित करने की चेष्टा वे करत हैं।

जानना चाहते हैं कि समाज का अगर समाज होकर रहना है तो उसकी परिचालना पैसे क द्वारा होगी या प्रेम के? आज जा गडबड समाज की सरचना मे दिखाई देती है लेखक की दृष्टि म उसका कारण यह है कि जहाँ प्रेम को केन्द्र म रहना था वहाँ पैसा आ गया है। इसी मन्त्र के नाना रूपा, नाना द्वन्द्वो को उकरनी है दशाक का कथा। वैसे कथा इसम है नही चाही भी नही गई। जितनी भी है वह बस एक क्षीन साधन क रूप म है, साध्य नहीं है वह। साध्य तो कुरेदना, पैदा करना है। सारी नाटकीयता के

बावजूद यही कुरेदना पाठक को आदि से अंत तक बाँधे रखती है।

रजना जो घर मे सरस्वती थी अपने पति से बिछुड़ कर प्रेम के व्यवसाय म आती है। सम्पन्न परिवार में जन्मी पत्नी। पति चुना उसे-जो विश्वविद्यालय म प्रथम आया था पर था निधन परिवार का। इसी स्थिति ने आगे चल कर पति-पत्नी के सम्बन्धो मे विषमता पैदा कर दी। धनी पत्नी के सामने निधन पति हीन भाव से ग्रस्त हो गए। और उन्होंने मान लिया कि पत्नी मे जो सन्तोष है वह ओढ़ा हुआ है, अन्दर शिकायत है मुझ अपात्र से इसलिए वह पत्नी को धनी होकर ही पा सकेंगे। इस प्रक्रिया मे जुआ आया शराब आई, मार-पीट की नौबत भी आ गई। सरस्वती ने चाहा कि पैसे का स्थान प्यार ले, पर शका के रहते वह सम्भव न हुआ, तब रजना का जन्म हुआ। उसने माना कि पुरुष प्रेम का भूखा है। उसी की तलाश मे भटकता है वह। वेश्यालय इसीलिए अस्तित्व मे आए पर वहाँ उसे सचमुच की सन्तुष्टि नही मिलती, क्योकि वहाँ तन का व्यापार मुख्य है। व्यापार पैसे के बल पर चलता है। प्रेम के बल पर नही। इसलिए रजना अपने क्लीनिक मे मन का अर्थात् प्रेम का व्यापार करती है। व्यापार इस अथ मे कि बदले म प्रचुर मात्रा मे पैसा आता है, प्रचुर मात्रा मे ही उसका सदुपयोग होता है उनके अभाव दूर करने के लिए जो अभावग्रस्त हैं।

कुछ लोग मानत हैं कि जब तक नर नारी मित्र नही बनते तब तक समस्या सुलझ नही सकती। मित्र अपना-अपना अलग अस्तित्व बनाए रखत हैं। एक-दूसरे मे खो नही जात लेकिन यह मतभेद सतह पर अधिक है। भावना बाजार की मनोवत्ति से मुक्ति पाने की है। बाजार का आधार पैसा है और यह पैसा नारी को वस्तु बनाकर बाजार मे ला बैठाता है। जब तक यह स्थिति है तब तक दहेज और वेश्यावत्ति से मुक्ति नही है।

उसके क्लीनिक मे नाना रूप अवाछित व्यक्ति आते हैं जिन्हे आज की सभ्य भाषा मे सभ्य तो कहा ही नही जा सकता। जैसे तस्कर हत्यारे आदि। आत वे भी हैं जो पैसे की शक्ति के बल पर सभ्य समाज मे सम्मानित और पूजित हैं। लेकिन पैसा तो कभी सीधी राह आता नही। ये पसे

वाने भी वे ही सब कम करते हैं जो तस्कर करता है। ऊपर की इस कृत्रिम असमानता के बावजूद अन्दर उनमे एक अदभुत समानता है, वे बिखर और टूटे हुए हैं। प्यार की अव्यक्त ललक है उनमे। तभी तो इतनी बडी फीस देकर आते हैं उनके पास। रजना मानती है कि वह ललक पूरी हो सके तो वह अपने को पहचान सकते हैं और पैसे के प्रति उनका अतिरिक्त मोह समाप्त हो सकता है। रजना के माध्यम से लेखक बताना चाहता है कि प्यार के अपने स्थान पर आते ही पैसे की शक्ति समाप्त हो जाएगी। पुरुष पैसा, बाजार, स्पर्धा और हिंसा का प्रतीक है और नारी प्यार शान्ति, त्याग और घर की। लेकिन अपने आप मे दोनो अधूरे हैं। नारी के गुणो के बिना पुरुष अधूरा ही नही असफल भी है। आज के सघर्ष के मूल मे यही 'असफलता' है। इससे मुक्ति पाने के लिए उसे नारी के गुणो को अपने मे समाहित करना होगा।

जैनेन्द्र जी मानते हैं कि नारी पुरुष से श्रेष्ठ है। उसे ही पैसे के मोह से मुक्ति पानी है। मुक्ति पायी नही कि पुरुष उसका मित्र बना नही। व्यापार का अर्थ है पैसा, पैसे का अर्थ है खरीद और फरोख्त। फिर तो स्पर्धा, सघर्ष हिंसा वह सब कुछ है जिससे आज जग पीडित है। नर के मन मे नारी की चाह पाप नही है, दोनो मे सहज आकर्षण है। इसी आकर्षण की चर्चा करते हुए वे कही पहुँच जाते हैं, "सोचें क्या है जिस पर हम टिके हैं। धरती के लिए कहा जाता है उसे गुरुत्वाकर्षण। अपने लिए कर दीजिए स्वत्वाकर्षण लेकिन किसी के लिए वह काफी नही है। हर कुछ प्रत्याकर्षण मे आबद्ध है। चाँद धरती के और धरती सूरज के प्रति चकराये बिना न रहेगी। यह प्रत्याकर्षण लेकिन सारा सौरमण्डल जसा कि सारा मानव ससार एक परमाकर्षण मे खिचा जा रहा है। स्वय अपने प्रति और दूसरे के प्रति आकर्षण इस परमाकर्षण के अगभूत हैं।"

दशार्क के सभी चरित्र रजना का पति हो माणिक सेठ हो कालिचरण हो माधव बगडिया हो, फ्रास का पियरे हो वेश्या हो या गहस्वामिनी हो यहाँ तक कि ऊपर से कठोर दिखने वाली परिमिता हो सबमे प्यार की ललक है। प्यार के अभाव मे सब भटकते हैं। देखने मे यह सब लेखक के हाथ की गढी कठपुतलियाँ लगते हैं लेकिन उन सबके भीतर जो कुरेदना है

यह निखूट के प्रति आकर्षण सत्य है।

इसलिए परिणाम मे जो हासिल होता है वह रजना का सुख नही है, गहरी कुरेदना है और वही कुरेदना 'दशार्क' की शक्ति है और प्रतिपाद्य विषय भी। यह आवश्यक है कि इस उपन्यास को पढते समय पाठक अपने को उन सब पूर्वाग्रहो से मुक्त कर ले जो लेखक को लेकर उसके मन मे रच-बस गए हैं। अर्थात दार्शनिक जटिलता और बुद्धि के ताप के विरोध को प्रतिपाद्य विषय बनाकर भी, उससे मुक्ति न पाने की विवशता को, हम उपन्यास के हार्द को समझने मे बाधा न मानें। चूकि उपन्यास मे रजन ढूंढे नहीं मिलेगा इसलिए रहस्य रोमांच और भावुक रोमास के लोभी पाठको का मुक्त प्रेम और वेश्या के रहते भी निराश होना पडेगा। मतभेद की गुजाइश ही गुजाइश इस उपन्यास म है। प्यार, स्त्री और वेश्या के प्रति लेखक के दृष्टिकोण को लेकर ही नही बल्कि मार्क्स के मूल्याकन को लेकर भी, लेकिन यही गुजाइश तलाश को प्रखर बनाती है।

चरित्र चित्रण यहाँ गौण है फिर भी माणिक सेठ का चरित्र कम जटिल नही है। उपन्यास मे वही तनाव पैदा करता है। लेखक ने बडी कुशलता से उकेरा है उसे वैसी ही है पारमिता। इनका सारा आक्रोश, सारी फुवार स्वाभाविक है। पियरे, जन मुनि विद्यासागर स्वामी अभेदानन्द माननीय मन्त्री महोदय। य सब रजना के विराध मे नही हैं बल्कि उसे शक्ति देने के लिए हैं। वे मानत हैं कि प्रेम का केन्द्र घर है। घर से निसृत होकर ही वह बाजार को सिंचित कर सकेगा। स्वय रजना भी तो कहती है, "घर के केन्द्र से अलग होकर नागरिक धर्म से च्युत हो गई हूँ। बूँद की तरह से छिटक कर सागर से अलग जा पडी हूँ।'

जैनेन्द्र मार्क्स के निदान से इकार नही करत। उनका कहना है कि मार्क्स पैसे की शक्ति से आतकित हो गए। मूल म शायद उनका मानस पूजी की ताकत के बोध से मुक्त नही आतंकित था इसलिए वह ताकत वहाँ से गई नहीं अधिक केन्द्रित और पुजीभूत हो गई।

जैनेन्द्र जिस मार्ग की ओर सकेत करते हैं वही सही है यह दावा अस्वीकार करके भी जिस समस्या की ओर वह सकेत करते हैं वह और परेशान करने वाली है यह तो मानना ही पडेगा। और यह भी उसका हल

ढूढते-ढूढते हम निरतर हिंसा और शोषण का शिकार होत जा रहे हैं। महानाश की इस विभीषिका म वचन क लिए आज सभी व्याकुल हैं। निगज और अदन सभी चिन्तित हैं कि कोई माग नहीं मिला तो

दशाक म ऊपर स वह नर नारी की समस्या है पर व ही तो पसे और प्यार की सस्कृति के प्रतिनिधि हैं। बडा अजीब लगता है कि नक्ली दिमाग और मशीनी मानव क युग म काई घर और प्यार की बातें करे। इसी दु स्साहस पर हम साचना है। रास्ता वही न हो जो दशाक का है पर जगत को अगर जीत रहना है तो काई रास्ता चाहिए ही। यह महत्त्व कम है क्या किसी रचना का ? बल्कि महत्त्व अगर होना है तो यही होना चाहिए।

एक बात खटकती है। बुद्धि के ताप से बचाना चाहता है लेखक पर उपन्यास की सरचना पर बराबर उसी की छाया मँडराती है। सतुलन नहीं साधा जा सका विचार और कम म। लेखक को अभीष्ट नहीं है शायद। प्रारम्भ मे घर म जिस सहजता का सकेत है। क्लीनिक म जाकर वह सहजता, विचार और तक क व्यामोह म खो जाती है। व्यामोह इसलिए कि कही वही श दो का खल नाटकीयता और दाशनिकता इतनी अधिक है कि पाठक सहज नही रह पाता। रजना भारी है सब पर बराबरी पर आती ही नही कभी। आतकित करती है बार बार। हम चकित होत हैं और झुझलात हैं। क्लीनिक म एक ओर सात्विकता का आग्रह दूसरी ओर शरीर को उघाडत चित्र। इसी शरीर को बचान के लिए उसे घटी बजानी पडती है। वश्याओ का शरीर का व्यापार न करने की सलाह भी वह बडे उत्साह स दती है। शरीर की रक्षा के प्रति यह माह आज क मनुष्य का आडम्बर ही लगगा। वह नही मानेगा कि शरीर देना अतत अपन को देन म बाधा बन जाता है। ' यद्यपि आकषण शरीर का ही है जो दोना को पास लाता है तो भी जिस प्यास स वे पास आत हैं वह शरीर से कही कही गहरी है।"

उपन्यास म सब कुछ कहा जाता है होता कुछ नही, लेकिन वैचारिक हलचल अवश्य पैदा होती है और उग्र रूप स होती है। यही शायद लखक को अभीष्ट है। इसीलिए वह इसके बाद रजना का अपन घर वापस ले जात हैं क्योकि प्रम का क द्र तो वही है। और प्रेम का विश्व म जाना है तो कद्र स हाकर जाना है, पति पत्नी क सम्ब धा स होकर जाना है।

प्रश्न उठ सकता है कि यह अच्छा नही होता कि यह वैचारिक शान्ति पात्रो के मानसिक तनाव और घात प्रतिघात के द्वारा अकित हो सकती। तब शायद प्रभाव अधिक सघन होता। पर दशाक तो वैसा परम्परागत उपन्यास है नही। नये रास्ते की तलाश है उसे और तलाश कभी गलत नही होती, क्योंकि वहाँ अन्तिम जसा कुछ नही होता। नति नेति की पुकार है उसमे। इस तलाश की प्रक्रिया म रजना कहाँ स कहाँ तक पहुँच जाती है। "मैं निकली थी इसलिए कि प्रयाग करूँगी, सबको प्रेम दूगी, सबका प्रेम पाऊगी, यही है वह शक्ति जिसम कि मानव जी रहा है। लेकिन हमन अपनी व्यवस्था के लिए विधि निषेध उपजाए हैं। उस विधि-निषेध की रक्षा के लिए सस्था की रचना की है। अन्तर्राष्ट्रीय और भूमण्डलीय मुद्रा प्रणाली की बातें सोची जा रही हैं। विज्ञान ने अणु शक्ति दी है तो गजब की तजी आ गई है व्यापार मे, व्यवस्था मे और उसस बडा व्यवसाय। व्यवसाय जानत हैं क्यो? क्योकि स्त्री-पुरुष के बीच के सीधे सादे आकषण को, प्रेम को उनकी परस्परता से खीच कर, वहाँ से तोड कर हमन इस उस वादश से जोडने की चेष्टा की है। वाद खडे किए हैं। जो एक दूसरे विवाद की वितडा मे ही अखड सत्य को एक चौखटे मे जड कर मानव के सिर पर जिठा देना चाहते हैं।'

उपन्यास के सबसे विश्वसनीय स्थल वे हैं जहाँ लेखक मुद्रा की अतिशयता से मिलने वाली सुख-सुविधा और वेश्यापन मे कोई अन्तर नही देखता। है कहाँ जो देखा जाता। रजना के मुह से जब वह यह कहलवाते हैं कि "आप (वेश्याएँ) कुचली हैं, पामाल हैं, बेगैरत हैं, सबकी दुरदुराहट के लिए पीकदान हैं लेकिन मैं जानती हूँ कि आप थामे हुए हैं ऊपर, उस सारी चीज का जिसे तहज़ीब माना जाता है। पैसे का जो फरेब दुनिया को जकडे हुए है उसको आप हम औरतो का प्यार ही तोड सकता है और आगे आन वाला जमाना इसी का इन्तजार कर रहा है।" तो सारे मतभेदो के बावजूद हम आमीन' कह उठते हैं। और ऐसे स्थल अनकानक हैं इसलिए थोडी देर के लिए हम भूल जाते हैं काश, उपन्यास मे जितना विचार यानी बुद्धि का ताप है, उतना आस्था का आलेपन भी होता। क्योकि स्वय लेखक मानता है कि धम आस्था से निभता है और बुद्धि सदा उसके आडे आती

है। प्रेम भी आस्था से निभता है बल्कि हम तो कहेंगे कि आस्था का ही एक और नाम प्यार है। नही है क्या ?

प्यार की इस शक्ति को उकेरता 'दशाकं' क्या इसीलिए वरेण्य नही है ? वह एक और कारण से भी वरेण्य है कि आयु सजन की बाधा नही बनती बल्कि उसे प्रौढता प्रदान करती है और वरेण्य बनाती है। दशाक' उपन्यास की परम्परागत व्याख्या के अनुसार उपन्यास है या नही है यह बहस कोई अर्थ नही रखती। समाज मे जब मूल्य ही गडडमडड हो रहे हो तब उनको रूपायित करने वाली कृतियो का परम्परागत साँचा कैसे बना रह सकता है। आज का उपन्यास मात्र रजन ही नही करता, मूल्यो का जायजा भी लेता है इसलिए 'दशाक' मे रजन नायिका रजना के नाम मे हो सकता है, उसके व्यवहार मे दिखाई नही देता। लेखक ने वास्तव मे रजन शब्द को उसके गूढार्थ मे लिया है चालू अर्थ मे नही।

द्विजेन्द्रनाथ मिश्र 'निर्गुण'

जो अकिंचनता की सीमा तक शालीन उदात्त है जिसका प्यार स्नेह करुणा में सराबोर है, जिसकी कुण्ठा अपनी निजी है पवित्र है, जो आडम्बरहीन, सकोची प्रदशन स दूर और दम्भहीन है उसी का नाम है द्विजेन्द्रनाथ मिश्र निगुण'। हृदय ही मनुष्य है, इसके व पुजीभूत आकार हैं। उनक व्यक्तित्व उनके कृतियाँ, उनक पत्रा, सबका भावबोध एक दूसरे म ओतप्रात है। छदम उन्ह छू भी नही गया। आत्म-प्रकाश स हजार कोस दूर रहने क कारण आज क प्रचार के युग मे उनका नाम छूट-छूट जाता है।

पर यह छूटना क्या अभिशाप है? क्या इसी ने उनकी मौलिकता का अक्षुण्ण नही रखा है? अपन को जीवित रखन के लिए तपना होता है। वही तप निगुण' न तपा है और उसका मूल्य चुकाया है। नहीं तो आज के शुद्ध मिलावट के युग म उन्हें हम लोगो की तरह सीगें कटाकर बछडा म शामिल हान के लालच मे, फेंस के दोनो ओर कूदने म व्यर्थ शक्ति व्यय करनी पडती और फिर भी तथाकथित युगबोध मृगतृष्णा ही बना रहता।

और आलाचक ही क्या लेखक की चरम आईकोट है। सामान्य पाठक का स्नेह क्या कम बल देता है। सच तो यह है कि अन्तिम निर्णायक वही है और निगुण को निश्चय ही लक्ष लक्ष पाठकों का स्नेह मिला है। उन्होंन माया के माध्यम से कथा साहित्य मे प्रवश किया। यह भी एक सीमा तक उपेक्षा का कारण बना पर जनता तक पहुँचन का साधन भी तो वही बनी।

है। प्रेम भी आस्था से निभता है बल्कि हम तो कहग कि आस्था का ही एक और नाम प्यार है। नही है क्या ?

प्यार की इस शक्ति को उकेरता 'दशाक' क्या इसीलिए वरेण्य नहीं है ? वह एक और कारण से भी वरेण्य है कि आयु सृजन को बाधा नहीं बनती बल्कि उसे प्रौढता प्रदान करती है और वरेण्य बनाती है। 'दशाक' उपन्यास की परम्परागत व्याख्या के अनुसार उपन्यास है या नही है यह बहस कोई अथ नही रखती। समाज मे जब मूल्य ही गडडमडड हो रहे हो तब उनको रूपायित करने वाली कृतियो का परम्परागत साँचा कैसे बना रह सकता है। आज का उपन्यास मात्र रजन ही नही करता, मूल्यो का जायजा भी लेता है इसलिए 'दशाक' मे रजन नायिका रजना के नाम मे हो सकता है, उसके व्यवहार मे दिखाई नही देता। लेखक न वास्तव म रजन शब्द को उसके गूढाथ मे लिया है चालू अथ मे नही।

द्विजेन्द्रनाथ मिश्र 'निर्गुण'

जा अकिंचनता की सीमा तक शालीन उदात्त है, जिसका प्यार स्नेह करुणा मे सराबोर है जिसकी कुण्ठा अपनी निजी है, पवित्र है, जो आडम्बरहीन, सकोची प्रदशन से दूर और दम्भहीन है उसी का नाम है द्विजेन्द्रनाथ मिश्र 'निगुण'। हृदय ही मनुष्य है, इसके व पुंजीभूत आकार हैं। उनके व्यक्तित्व उनके कृतियाँ, उनके पत्रों, सबका भावबोध एक दूसर म ओतप्रात है। छदम उन्हें छू भी नही गया। आत्म प्रकाश से हजार कास दूर रहने क कारण आज क प्रचार के युग मे उनका नाम छूट-छूट जाता है।

पर यह छूटना क्या अभिशाप है? क्या इसी न उनकी मौलिकता को अक्षुण्ण नही रखा है? अपन को जीवित रखन के लिए तपना होता है। वही तप निर्गुण' न तपा है और उसका मूल्य चुकाया है। नहीं ता आज के शुद्ध मिलावट क युग म उन्हें हम लागो की तरह सींगें कटाकर बछडा मे शामिल होन क लालच मे फँस के दोनों ओर कूदने मे व्यथ शक्ति व्यय करनी पडती और फिर भी तथाकथित युगबोध मृगतृष्णा ही बना रहता।

और आलोचक ही क्या लेखक की चरम आईकोट है। सामान्य पाठक का स्नह क्या कम बल देता है। सच तो यह है कि अन्तिम निर्णायक वही है और निगुण को निश्चय ही लक्ष लक्ष पाठको का स्नह मिला है। उन्होन माया के माध्यम से कथा साहित्य म प्रवश किया। यह भी एक सीमा तक उपेक्षा का कारण बना पर जनता तक पहुँचन का साधन भी तो वही बनी।

है। प्रेम भी आस्था से निभता है बल्कि हम तो कहेंगे कि आस्था का ही एक और नाम प्यार है। नही है क्या ?

प्यार की इस शक्ति को उकेरता 'दशाक' क्या इसीलिए वरेण्य नहीं है? वह एक और कारण से भी वरेण्य है कि आयु सृजन की बाधा नहीं बनती बल्कि उसे प्रौढता प्रदान करती है और वरेण्य बनाती है। 'दशाक' उपन्यास की परम्परागत व्याख्या के अनुसार उपन्यास है या नहीं है यह बहस कोई अर्थ नही रखती। समाज मे जब मूल्य ही गडडमडड हो रहे हों तब उनको रूपायित करने वाली कृतियो का परम्परागत साँचा कैसे बना रह सकता है। आज का उपन्यास मात्र रंजन ही नहीं करता, मूल्यों का जायजा भी लेता है इसलिए 'दशाक' मे रंजन नायिका रंजना के नाम में हो सकता है, उसके व्यवहार मे दिखाई नही देता। लेखक ने वास्तव में रंजन शब्द को उसके गूढार्थ मे लिया है, चालू अर्थ मे नही।

बचपन से लेकर आज तक भाग्य की इतनी ठोकरें मैंने खाई हैं, दूसरा क इतने आघात सहे हैं, इतनी उपेक्षा और अवमानना पाई है, कहते नही बनता। अपना भोगा हुआ यही सब अगर लिखता तो उन ओढ़ी हुई त्रासदी वालो से कही अधिक जानदार चीजें पेश कर सकता था।"

उनका यह दावा नकारने की धृष्टता मैं नही करूँगा। क्योकि मैं जानता हूँ कि उन्होंने इस पीड़ा को अपनी निजी थाती के रूप मे अन्तर म सजोकर रखने का प्रण किया हुआ है। नीलकण्ठ तो एक शिव ही थ पर उस आदश की ओर उ मुख होन वालो म निगुण अग्रणी हैं। डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने उ ह लिखा 'आप पाठको के साथ इतना अ याय क्या करत हैं कि आदमी आपकी कहानी पढकर तिलमिला कर रह जाए। एसा मत कीजिए।" डा० आर्ये द्र शर्मा ने सुझाया— 'आदमी को जि दा रहने को, छाती ठोककर आगे बढन की हिम्मत बँधाओ तो कुछ बात भी है।"

सहज भाव से यह सुझाव स्वीकार करते हुए निगुण लिखते ह मैंन अपना रवैया ही बदल दिया है। दुखान्त चीजें लिखना छोड दिया है। अपनी सारी व्यथा, सम्पूण कष्ट कलेजे के भीतर दफना कर लिखता रहा हू। कभी पाठकों को धोखा नही दिया ।"

काश, यह कैफियत देने की आवश्यकता न पडती, पर उन्होंने अपन आलोचको से कडी चोट खाई है। चोट खाना सरल प्राण व्यक्ति की नियति है।

उस चोट का आभास उनकी कहानियो मे भी मिलता है। दायर मे उन्होंने आधुनिक नारी की प्रतीक मिसज खन्ना और अपनी कल्पना की महिमामयी नारी राधा का चित्रण कुछ ऐसे किया है जस आलोचको को जवाब दे रहे हो। पर वह इतना सहज स्वाभाविक है कि कुछ भी आढा हुआ या सायास नही लगता। यह कहानी सहज ही उनकी प्रतिनिधि कहानियो म मानी जा सकती है, कला और शिल्प दोनो दष्टियो स। अकिंचन की तरह रवी द्रनाथ के शब्दो मे वे कहते हैं "न मिले सिंहासन, मुझे तनिक भी दुख नही। सबके चरणो क नीचे मेरी जगह हो प्रभु मैं इतन से ही स तुष्ट हूँ।"

भवभूति न उस युग म इसी तरह आलोचको से चोट खाकर घोषणा

"निगुण ने पुरुष होकर घड़ों आँसू बहाए हैं।" या "उनका भाव-बोध श्रीनिवास दास युग का है।" यह कहने वाले आलोचक हैं तो यह घोषणा करने वाले भी हैं "निगुण की रचनाएँ पढ़ते समय हम शरत और प्रेमचन्द की याद एक साथ आती है।" 'निर्गुण जैसे कलाकार के होते हुए अन्य भाषाओं के कहानीकारों की ओर हम दौड़ने की क्या जरूरत है?" (दिनकर उनमें शिल्प बहुलता के बीच सहजता की तलाश है।" (मधुरेश) 'प्रेमचन्द की कहानियों की तटस्थता, सूक्ष्म दृष्टि, सरलता, सुबोधता के सूत्र उनकी कहानियों में सहज ही प्राप्त हैं। रचनाशिल्प की अकृत्रिमता और स्वाभाविकता मन को मोह लेती है।" (डा० लक्ष्मीनारायण लाल), "व उस पुरानी परिपाटी के कथाकार हैं जिनमें चमत्कार कम, पर वास्तविक सत्य अधिक होता है। उनका जीवन का अनुभव बड़ा है, इसीलिए उनकी कहानियों में वैचित्र्य और विभिन्नता है, रस है, बल है।" (श्रीपत राय)।

साबुन', 'तिवारी', दायरे', घोडी और 'एक्सचेंज' जैसी कहानियों के स्रष्टा को यदि साहित्य का इतिहास भूल जाना चाहता है तो इसमें उसका अहित हो सकता है, निर्गुण का नहीं। उन्होंने 250 से अधिक कहानियाँ लिखी। वे सभी श्रेष्ठ हैं, ऐसा दावा तो वे स्वयं भी नहीं करेंगे, पर नाना स्रोतों से आकर ये शीर्षक तो श्रेष्ठता का दावा कर ही सकते हैं (1) दृष्टिदोष (2) बच्चे, (3) पड़ोसी (4) आसरा (5) लाल डोरा, (6) खोल, (7) आरपार, (8) जूठन, (9) टूटा फूटा, (10) भूख और प्यासे (11) दायरे (12) छोटा डाक्टर, (13) एक्सचेंज, (14) रस बूंद, (15) घोड़ी, (16) तिवारी (17) साबुन, और (18) शिल्पहीन कहानी।

अन्तिम 6 कहानियों को निगुण ने स्वयं चुनकर मेरी लोकप्रिय कहानियाँ में संकलित किया है।

निगुण जी विशुद्ध भारतीय परिवेश के चितेरे हैं। कोई क्रान्तिकारी दर्शन उनके पास भले ही न हो, पर इस जटिलता के युग में सरलता ही उन्हें प्रिय है। उन्होंने स्वयं कहा है, "कुण्ठा और सन्त्रास अपने व्यक्तिगत जीवन में जितना मैंने झेला है, शायद ही किसी लेखक को भोगना पड़ा हो।

बचपन से लेकर आज तक भाग्य की इतनी ठोकरें मैंने खाई हैं, दूसरा के इतने आघात सहे हैं, इतनी उपेक्षा और अवमानना पाई है, कहते नही बनता। अपना भोगा हुआ यही सब अगर लिखता तो उन ओटी हई त्रासदी वालो से कही अधिक जानदार चीजें पेश कर सकता था।"

उनका यह दावा नकारने की धृष्टता मैं नही करूँगा। क्योकि मैं जानता हूँ कि उन्होंने इस पीडा को अपनी निजी थाती के रूप मे अन्तर म सजाकर रखने का प्रण किया हुआ है। नीलकण्ठ तो एक शिव ही थ पर उस आदश की ओर उ मुख होन वाला म निगुण अग्रणी हैं। डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने उन्हें लिखा, 'आप पाठकों के साथ इतना अन्याय क्या करत हैं कि आदमी आपकी कहानी पढकर तिलमिला कर रह जाए। ऐसा मत कीजिए।" डा० आर्येन्द्र शर्मा न सुझाया—"आदमी को जिन्दा रहन की, छाती ठोककर आगे बढन की हिम्मत बँधाओ तो कुछ बात भी है।"

सहज भाव से यह सुझाव स्वीकार करत हुए निगुण लिखते हैं, मैंन अपना रवैया ही बदल दिया है। दुखान्त चीजें लिखना छोड दिया है। अपनी सारी व्यथा, सम्पूर्ण कष्ट कलेजे के भीतर दफना कर लिखता रहा हूँ। कभी पाठको को धोखा नही दिया ।"

काश, यह कैफियत देने की आवश्यकता न पडती, पर उन्होंने अपन आलोचको से कडी चोट खाई है। चोट खाना सरल प्राण व्यक्ति की नियति है।

उस चोट का आभास उनकी कहानियो में भी मिलता है। दायर म उन्होंने आधुनिक नारी की प्रतीक मिसेज खन्ना और अपनी कल्पना की महिमामयी नारी राधा का चित्रण कुछ ऐसे किया है जैसे आलोचको का जवाब दे रहे हो। पर वह इतना सहज स्वाभाविक है कि कुछ भी ओढा हुआ या सायास नही लगता। यह कहानी सहज ही उनकी प्रतिनिधि कहानियो म मानी जा सकती है कला और शिल्प दोनो दष्टियो स। अकिंचन की तरह रवी द्रनाथ के शब्दो म वे कहते हैं 'न मिले सिंहासन, मुझे तनिक भी दुख नही। सबके चरणों क नीचे मेरी जगह हो प्रभु मैं इतने से ही सन्तुष्ट हूँ।"

भवभूति ने उस युग म इसी तरह आलोचको से चोट खाकर घोषणा

की थी, "जो लोग मरी अवज्ञा करते हैं, वे बहुत बडे हैं, बहुत कुछ जानते हैं परन्तु उनके लिए मेरी यह रचना नही है। कभी न कभी कोई माई का लाल जरूर पैदा होगा, जो मेरी छाती-स-छाती लगाकर मेरी आवाज सुन सकेगा। क्योकि काल की कोई सीमा नही है और यह धरती बहुत विशाल है।"

पता नही, भवभूति के आलोचक कौन थे और कहा थे ? पर काल की सीमाएँ लाँघकर भवभूति आज भी जीवित हैं। निर्गुण भी जीवित रहेंगे और यह भी एकान्त सत्य है कि सब के चरणो के नीचे की जगह ही सबसे ऊची जगह होती है।

निर्गुण अपनी कहानियो के पात्रो से, जिन्हे उन्होने अपने हृदय के रक्त से सींचा है अलग क्या हो जो परिस्थितियो से निर्मित 'शैतान के भीतर मे तिवारी' रूपी शिव को खोज लेता है, जो एक्सचेंज की महिमामयी नारी आदर्श की तरह स्फटिक मणि की तरह पारदर्शी है जो साबुन की मा जैसी उदात्त श्यामा की तरह सरलप्राण है, जो शिल्पहीन कहानी के बलिदानी हरेकृष्ण की तरह अहने गौरव से अपरिचित है और जो घोडी की 'राजरानी' की तरह अपनी आत्मा को पहचान कर विद्रोह करना जानता है वह अपने को हीन क्यो समझे ? क्यो कहे ? 'मुझे तो अपने पर आस्था नही है। लगता है कि जैसे सम्पूर्ण जीवन ही मेरा व्यर्थता से भरा है, तब भला मेरी कहानियो का क्या मूल्य होगा ?' 'साबुन' जैसी कहानी को लेकर क्यो व्यग्य करें यह महज एक कहानी है, एक रद्दी-सद्दी कहानी जो इस सग्रह के सौदय को नष्ट कर रही है। जैसे किसी के मखमल के एक किनारे टाट का टुकडा लगा दिया हो। यह हर्गिज श्रेष्ठ कहानी नही है।'

होता यह है कि निर्गुण के विद्रोह की आग आसुओ के भीतर से धधकती है इसीलिए उसका दश मुलायम पड जाता है और उनकी उदात्त भावना अतिशय तरल हो रहती है।

लेकिन निर्गुण के आसू प्रयत्न के आसू नही हैं। उन्होने सहज भाव से उन्हे भोगा है। वे उनके जीवन में आते प्रात है। उनके प्रारम्भिक जीवन की एक मार्मिक घटना मे इनका स्रोत ढूढा जा सकता है—

"मेरी माँ को कहानिया पढने का बेहद शौक था। अपने एक निकट के सम्बन्धी के यहाँ से वे 'चाँद' के दो अक पढन को लेती आई। सम्बन्धी पैसे वाले थे और हम लोग बाकायदा गरीब थे। मेरी माँ रसोई मे थी कि वकील साहब का नौकर आँगन मे खडा होकर जोर से पुकार कर बोला, "कहा हा बुआ जी ? बहू जी ने वे दोनो किताबें मँगाई हैं।" माँ न विना एक शब्द बोले 'चाँद' के व दोनो अक उसे पकडा दिए।

रात पड गई। सब कोई छत पर सो रहे थ। पता नही कैसे आँख खुल गई। सुना, थोडी दूर पर लेटी मेरी माँ धीरे-धीरे सिसक रही है। मैं चौंककर उनकी खाट पर जा बैठा और बार-बार पूछने लगा, "क्यो रो रही हो ? क्या हुआ ?"

नीम अँधेरे मे अपनी आँखें पोछ कर मा ने कहा, "कोई बात नही ह, तू जा, सो जा।" पर मैं नही उठा। तब माँ ने हौले-हौले मानो अगोचर से कहा, "दो घटे बाद ही नौकर लौटा दिया। इतना भी सब्र न हुआ। मेरे पास पैसे होते तो मैं भी खरीद पाती 'चाँद'।"

माँ की वे आसुओ मे डूबी बातें सुनता निरुपाय मैं निश्चल बैठा रहा। आज कितने साल हा चुके इस घटना को पर मुझे बहुत पीडा हुई थी, बहुत दद लगा था अपनी माँ पर, यह अभी तक याद ह।

और इसके तीन साल बाद सन 1931 मे मेरी पहली कहानी 'अभागी प्रकाशित हुई, तब मैं महज 15 साल का था। पर तु तब तक मरी माँ इस दुनिया से चली गई थी। उस कहानी को यदि वह एक बार पढ लेती तो मेरा सम्पूण लेखन साथक हो जाता। पर वह नही हुआ और वह कसक आज तक न गई।"

वही कसक आँसुओ म रूपान्तरित होकर ओत प्रोत किए हुए हैं निगुण के साहित्य को। पर भावबोध तो बदलता रहता है। उस युग मे आँसू शक्ति थ, आज दुबलता है। आँसुओ से जो भिगो दे, वह तब श्रेष्ठ रचना मानी जाती थी और अब वही निकृष्ट कहलाती है।

और यह भी दोष है उन पर कि वे आँसुओ को अनुभूति न बना सकें। अनुभव जब अभिव्यक्ति के लिए तडप उठता है तभी वह अनुभूति की सज्ञा पाता है। निर्गुण म वह तडप कम नही है। सब कुछ भोग कर लिखा है

उन्होंने। उन्होंने गाँव की जीवन्त स्वाभाविक कहानियाँ लिखी हैं तो नगर के नारी पुरुषों के सम्बन्धों को लेकर भी लिखा है। उन्होंने निम्न और मध्य दोनों वर्गों की वेदना और आकांक्षा की सही तसवीर पेश की है। जीवन के स्वस्थ और उदात्त पक्ष के कुशल चितेरे हैं वे, कुघड़ता-कुरूपता के नहीं। प्यार और कला आस्था और संवेदना सहानुभूति और संस्कृति, उन्हीं के शब्दों में उनकी मान्यता के आधार स्तम्भ हैं। वे मूलतः आदर्शवादी हैं, इसीलिए नारी के यौवन और रूप लावण्य से अधिक नारी की ममता-करुणा सहनशीलता और दृढ़ता उन्हें प्रिय है। मानते हैं कि जो समाज में तुच्छ है, नगण्य हैं हस्ती कुछ नहीं' जैसी है, अभावों के बीच जिन्दा हैं, वे अकिंचन भी अपने भीतर ज्योति लिए हैं।

यही तो शैतान के भीतर शिव की खोज है। अपने रिश्ते के विपिन ताऊजी में उन्हें तिवारी' मिल गए और अपनी पत्नी में 'श्यामा'। उसके अटपटे प्रेम के आगे सब तक हार जाते हैं। स्वाधीन भारत का प्यार थोड़े ही है वह जो काम विनान की कसौटी पर खरा उतरना चाहिए। कितनी तेजी से बदल रहा है युग। साबुन व छोटा डाक्टर' जसी कहानियों के अटपटे प्रेम के दिन लौट नहीं सकेंगे अब। ढूढ पायेंगे क्या कभी हम शिल्पहीन' कहानी के उदात्त चरित्र हरेकृष्ण को सबका आशीर्वाद मेरा सारी दुनिया का प्रणाम। आगे जाने वाला मुसाफिर हूँ सबका दुआएँ मेरी। एक्सचेंज जैसी सूक्ष्म दृष्टि और गहरी पहचान व उदात्तता अगर श्रीनिवास दास के युग की है तो वह युग भी वरेण्य है।

फिर भी कभी कभी तो ऐसा तड़पाते हैं कि विद्रोह भभक उठता है। 'रसबून' के गरीब रमचन्ना का हाथ जलाने में अमीर हलवाई गंगासहाय की निस्संग क्रूरता भी अगर विद्रोह की प्रेरणा नहीं दे सकती तो स.चना होगा कि हमारी नपुसकता कितनी ठोस है। विद्रोह तो शिल्पहीन कहानी' पढ़कर भी जागता है पर 'घोड़ी' की राजरानी का विद्रोह अधिक युगानुकूल और यथार्थपरक है। शिल्पहीन कहानी मात्र निममता का चित्रण करती है। घोड़ी निममता के प्रति विद्रोह का मार्ग स्पष्ट करती है। शिल्पहीन कहानी' की, नई कहानी की एक सुप्रसिद्ध सदिश की एक कहानी से तुलना को लेकर जो वितण्डावाद उठा था, वह तो पीढ़ियों के

युगो के दृष्टिकोण का अन्तर था। उस सम्बन्ध म हम श्रीअरविन्द के शब्दो मे इतना ही कह सकते हैं, ' मुश्किल यह है कि हम दूसरो को जाँचते समय उनके मानको की, उनके मूल्यो की परवाह न करके उन पर अपने मूल्य और मानक लादते हैं। परिणामस्वरूप उनका बहुत ही गलत चित्र बना लेते है।"

कन्नौज जिले के कुमार गाँव मे सन 1915 म जन्मे द्विजेन्द्रनाथ मिश्र 'निर्गुण' ने घोर गरीबी म जीवन यापन करते हुए प्रथम श्रेणी से अग्रेजी और सस्कृत म एम० ए० व साहित्याचार्य की परीक्षाएँ पास की। लिखा हिन्दी मे और पढाए सस्कृत के लक्षण ग्रथ। कई वष 'माया' के सम्पादकीय विभाग म भी रहे। 35 वर्ष तक अध्यापन काय किया। दो वष पूव राजकीय सस्कृत विश्वविद्यालय के विभागाध्यक्ष के रूप मे अवकाश प्राप्त किया है। लगभग ढाई सौ कहानियाँ लिखने के बाद 1973 म प्रकाशित अपने लघु उपन्यास 'ये गलियाँ, ये रास्ते' म उन्होने एक नये दिशाबोध का सकेत दिया है। स्वाधीनता के बाद भारत राष्ट्र जिस नानाविध भयानक भ्रष्टाचार के चक्रव्यूह मे फँस गया है, उसी का यथाथ और नग्न चित्र अकित किया है निर्गुण ने। साहित्य और शिक्षा जसा उदात्त पवित्र क्षेत्र ही विशेष रूप से उनका लक्ष्य है। पढते हैं तो जैसे देखे-सुने चित्र मन को कचोटते चले जाते हैं। इसम न पहले जैसी भावना की गहरी मुलायमियत है, न है वमा अतिशय तरल कारुण्य। है बस कम का काठिन्य। कहानी कहीं जाकर समाप्त नही होती, पर कहने का कुछ शेष रहता भी नही। यही इस लघु उपन्यास की शक्ति है। सब कुछ स्पष्ट-सपाट। मनोविज्ञान के अधकूप नही ढूढे हैं लेखक ने। बडे साहस के साथ सहज सरल भाषा म ढोगी प्राध्यापको और साहित्यकारो के मुखो पर से मुखौटे उतार फेंके है और कहा है, "देखो यह तो तुम।"

सस्कृत के पण्डित होने के कारण भाषा उनकी कही भी पाण्डित्य के बोझ से बोझिल नही होती। सकेत तक नही मिलता कि ऐसी सहज मधुर भाषा का लेखक सस्कृत का विद्वान भी है। वही भाषा उनके पत्रो की भी है।

वही अकिंचनता, वही स्नेह, वही सघष की कहानी, हर कही निर्गुण

है," 'मैं निगुणिया गुण न जानूं' वाला निगुण।

तात्स्ताय ने 8 वर्ष के एक बालक के साहित्यकार बनने की इच्छा प्रकट करने पर उसे लिखा था, "आपकी साहित्यकार बनने की आकांक्षा का अर्थ हुआ कि आप सांसारिक प्रख्याति-सम्मान के प्रत्याशी हैं। यह केवल आकांक्षा का अहंकार है। मनुष्य की एक ही इच्छा होनी चाहिए कि वह दयार्द्र हो किसी को आघात न पहुँचाए, किसी से घृणा न करे, वह किसी का दोषदर्शी न हो वरन प्रत्येक व्यक्ति के प्रति ममताग्रही हो।"

निर्गुण जी यही तो हैं। इसीलिए साहित्यकार भी हैं क्योंकि साहित्य की इससे सुन्दर सटीक व्याख्या और कुछ नहीं हो सकती।

प्रभाकर माचवे

डा० प्रभाकर माचवे के बारे मे लिखना ऐसा ही है जैसे अपने बारे मे लिखना। और अपने बारे म लिखना कितना कठिन होता है। बहुत से मित्र आज भी मानते हैं कि डा० प्रभाकर माचवे और विष्णु प्रभाकर दो नहीं, एक ही व्यक्ति है। इस अवधारणा को प्रमाणित करने के लिए बरसो पहले लिखे गये अपने ही एक हास्य-लेख 'विष्णु प्रभाकर माचवे' का एक कुछ लम्बा उद्धरण यहा देना चाहूँगा।

मैंने लिखा था, 'वे दो हो सकते हैं पर लाग उन्हे एकरूप मानते हैं। आपने गणित अवश्य पढा होगा। विष्णु प्रभाकर+प्रभाकर माचवे, प्रभाकर दोनो मे समान है सो दो बार नही बाला जा सकता। आपको अगर विश्वास न हो तो यह पत्रिका देख लीजिए। पृष्ठ 50 पर जो लेख छपा है उसके लेखक का नाम है 'विष्णु प्रभाकर माचवे'। तो विष्णु प्रभाकर माचवे एक ऐतिहासिक सत्य है।

इसलिये आपका मानना पडेगा कि शरीर भले ही दो हो पर वे एक हैं। उनकी प्रतिभा उनका कार्यक्षेत्र और उनकी मान्यताए सब भिन्न हो सकते हैं पर उनका नाम एक ही है। सम्पादक महोदय पारिश्रमिक भेजना चाहते हैं विष्णु प्रभाकर का दिल्ली मे पर मनीआडर पहुच जाता है प्रभाकर माचवे' के पास इलाहाबाद मे। श्रोता डामा सुनते हैं विष्णु प्रभाकर का, बधाई देने जाते हैं प्रभाकर माचवे को। विशेषांक मे कहानी छपती है विष्णु प्रभाकर की पाठक पत्र लिखते हैं 'प्रभाकर माचवे' को। सम्मेलन म सम्मानित होना है प्रभाकर माचवे' को, निमन्त्रण पहुँचता है विष्णु

प्रभाकर के पास। सम्पादक सदा चाहते हैं प्रभाकर माचवे से, प्रार्थना करते हैं विष्णु प्रभाकर से। कविता छपती है प्रभाकर माचवे की, यश मिलता है विष्णु प्रभाकर को। एक अपरिचित मित्र से परिचय कराया जाता है विष्णु प्रभाकर का लेकिन वे गद्गद होकर कहते हैं, "अरे आप इतना अधूरा नाम क्या ले रहे हैं पूरा नाम लीजिये न 'विष्णु प्रभाकर माचवे'। आपसे मिलने की युगों से उत्कण्ठा थी। महाराष्ट्र के होकर भी आप हिन्दी की इतनी सेवा कर रहे हैं।'[1]

आज भी स्थिति में कोई परिवर्तन नहीं हुआ है। माचवे जी कहीं नाटक देखने गए थे। एक बन्धु तेजी से उनके पास आए और बोले, "यह क्या बात है कि आप कविता तो लिखते हैं प्रभाकर माचवे के नाम से और नाटक लिखते हैं विष्णु प्रभाकर के नाम से।"

और जब तक माचवे जी स्थिति को स्पष्ट करें वे बन्धु जैसे आए थे वैसे ही गायब हो गए।

मेरे पास आज भी पत्र आते हैं जिन पर लिखा होता है 'डा० विष्णु प्रभाकर माचवे, 818 कुण्डेवालान अजमेरी गेट, दिल्ली 6। शायद किसी ने उन्हें बताया होगा कि डा० विष्णु प्रभाकर माचवे एक नहीं दो व्यक्ति हैं तो उन्होंने एक पत्र पर लिखा—डा० विष्णु प्रभाकर 818 कुण्डेवालान और दूसरे पर लिखा—डा० प्रभाकर माचवे 819 कुण्डेवालान

अभी मैं मध्यप्रदेश के एक नगर में एक सम्मेलन में भाग लेने के लिए गया तो सारे नगर में खबर फैल गई कि डा० प्रभाकर माचवे आ गए हैं। उस दिन गुरुकुल कांगड़ी में मुझे भाषण देना था। उसकी समाप्ति पर कुलपति महोदय धन्यवाद देने आए तो उनका पहला वाक्य यह था, आप सभी ने आज के विद्वान् वक्ता डा० प्रभाकर माचवे का सारगर्भित और मार्मिक भाषण सुना

उसी क्षण सारी सभा व्यंग्य भरे अट्टहास से गूंज उठी। कुलपति महोदय ने सकपका कर मेरी ओर देखा और दूसरे ही क्षण वे भी उस

---

1 डा० प्रभाकर माचवे—ले० विष्णु प्रभाकर पृ० 128 मेरे अग्रज मेरे मीत सामयिक प्रकाशन दरियागंज नई दिल्ली 110002

अट्टहास म एक रूप हो गए। बोले, 'क्षमा करिये, ज्ञापनकर्त्ता हैं, विष्णु प्रभाकर'

आकाश की तरह कोई सीमा नही ऐसे उदाहरणो की। उस दिन,तो सचमुच ऐसा लगा था कि ससार का कुशल से कुशल सर्जन भी इस श्यामी युगल का अलग नही कर सकता। पत्रिका मे मेरा वह हास्य लेख पढकर एक महाराष्ट्रीय बन्धु मेरे पास आए और बोल, 'माचवे जी! आपका लेख पढा। सचमुच बहुत सुदर है।'

एक दृष्टि स तो वह निस्सन्देह सुदर कि मरी सारी कोशिशो के बावजूद वह लेख इस भ्रम' को दूर नही कर सका बल्कि ' भ्रम ही सत्य है।" इस अवधारणा का उसने प्रमाणित कर दिया।

क्या यह मात्र एक सयोग है? क्या सयोग अकारण ही घट जात हैं? उनका कोई अथ नही होता? मुझे लगता है कि सब कुछ अकारण नही हाता। कोई न कोई अथ होता है उसका। मरा और उनका प्रथम मिलन भी मात्र एक सयोग था। सन् 1938 म मेरा विवाह हुआ था। मई का महीना था। श्रद्धेय जैनन्द्र जी तथा अन्य कई बन्धु बारात म जा रहे थ। उसी समय डा० प्रभाकर माचवे और श्री नेमिचन्द्र जैन भारत भ्रमण करते हुए दिल्ली पहुचे। उनका अगला पडाव था हरिद्वार। मेरी बारात भी हरिद्वार के एक उपनगर कनखल जा रही थी। जैनन्द्र जी बोल, 'माचवे, तुम लोग भी क्यो नही बारात मे शामिल हो जाते।"

मेरी खुशी का पार नही था और उन दोनो का भी सुभीता हो गया। बारात के लौटन तक वे हमारे साथ ही रहे। अनचाही गरिमा मिल गई मेरे विवाह को। लेकिन विधाता मात्र इतने से ही सन्तुष्ट नहीं हुए। अभी कुछ और शेष था उनके कोष मे मेरे लिए। उन्ही दिनो प्रेमचन्द जी के 'हस' का एकाकी विशेषाक प्रकाशित हुआ था और साहित्य जगत मे चर्चा का विषय बन गया था। इसलिए विशेष रूप से क्योकि उस समय तक हिन्दी के साहित्यकार एकाकी विधा को गम्भीरता से नही ले रहे थे, अत डा० रामकुमार वर्मा और भुवनश्वर जैसे कुछ सजको को छोडकर और कोई भी एकाकी नही लिख रहा था। इसकी सार्थकता को लेकर सवश्री चन्द्रगुप्त विद्यालकार और उपेन्द्रनाथ अश्क मे एक लम्बी बहस भी इसी विशेषाक

मे प्रकाशित हुई थी।

साध्य भाज क अवसर पर हम सब इसी को लेकर चर्चा कर रहे थे कि सहसा माचव जी मेरी ओर मुडे। बाले, 'विष्णु जी! आपकी कहानियों म वार्तालाप बहुत सुन्दर हाते हैं। आप क्यो नही लिखते एकाकी।

क्या जवाब दिया था मैंने माचवे जी को, ठीक ठीक याद नही। शायद मुस्करा कर रह गया था पर यह अवश्य याद है कि यह वाक्य तब मेरे मन क पटल पर कही गहरे अकित हो गया था क्योकि सात महीने बाद 5 जनवरी 1939 का मैंने अपना पहला नाटक हत्या के बाद लिखा। उसके बाद अच्छा बुरा जैसा भी हो लिखता ही रहा। सोचता हू अगर माचव जी ने उस दिन मुझे प्रेरणा न दी होती तो क्या मैं नाटक लिख पाता।

दो वष बाद दिसम्बर 1940 म जोन टिकट लेकर मैं भी भ्रमण करने निकल पडा। उस यात्रा म सवश्री मैथिलीशरण गुप्त, सियारामशरण गुप्त, वृन्दावन लाल वर्मा, ज्योतिषाचार्य प० सूयनारायण व्यास, बनारसी दास चतुर्वेदी आदि अनेक दिग्गजो का सान्निध्य पाया। डा० प्रभाकर माचवे तब उज्जैन के कालेज म दशन और साहित्य क प्राध्यापक थ। कुछ समय पूव ही गाधी के सेवाग्राम आश्रम की एक कन्या स उनका विवाह हुआ था। उनके घर जाने पर उ होने जिस सरल स्नेह क साथ हम भोजन कराया था उसकी याद करके आज भी मन पुलक उठता है। माचव खूब बोलत है कभी-कभी अति भी कर जात हैं जैसे अपने ज्ञान म स्वय आत कित हो उठते थे। इस कोटि के व्यक्तियो के लिए ऐसा होना स्वाभाविक है पर उनकी पत्नी उतनी ही सौम्य और शान्त हैं। शब्द स अधिक शब्द को जीना उन्ह प्रिय है। वास्तव म वे दोनो एक दूसरे के पूरक हैं। यही उनके सुखी दाम्पत्य का रहस्य है।

माचवे जी चलते फिरते विश्वकोष माने जाते हैं। सात भाषाओ पर उनका समान अधिकार है। उनके ज्ञान की थाह नही। जब कभी भी कुछ जानने के लिए मैं उनके पास गया हूँ कभी निराश नही लौटा हूँ। मैंने उन्हें काम करते देखा है। महापण्डित राहुल साकृत्यायन की अध्यक्षता म बम्बई म हिन्दी साहित्य सम्मेलन का वार्षिक अधिवेशन हो रहा था।

माचवे जी मच के पृष्ठ भाग मे बैठे थे। मैं भी उनके पास ही था। देखता हूँ कि उधर भाषण चल रहे हैं और इधर माचवे जी साधारण से कुछ बडे पोस्ट काड निकाल कर लिखन मे व्यस्त हो गये हैं। छोटे छोटे अक्षरो मे दो कार्डों पर तो उन्होन एक लेख ही लिख डाला। दो एक कविताएँ लिखी।

इसी तरह एक बार जैनेन्द्र जी ने एक सस्था की स्थापना की तो उसका पूरा विधान उन्होने अल्प समय मे ही, मिलकबार बैठ कर तैयार कर दिया था। मैं चकित था उनकी विलक्षण आशुप्रतिभा और स्थित-प्रज्ञता पर। तभी तो श्री स० ही० वात्स्यायन न अपनी एक पुस्तक उन्हे भेंट करते हुए लिखा था प्रतिभापुज प्रभाकर माचवे का'।

वे सचमुच प्रतिभापुज हैं। उनकी जननी मराठी भाषा है, पर हिन्दी माँ है। इसी माँ के लिए उन्होंने अपने को समर्पित कर दिया है। बहुत से मित्र उनके ज्ञान की गहराई को अपने अपने गज लेकर नापने का प्रयत्न करते रहते हैं। समुद्र की व्यापकता और गहराई दोनो की थाह मनुष्य ने पा ली है पर आकाश के साथ ऐसा नही हो सका। क्योकि अपनी अपनी दष्टि की क्षमता के अनुरूप सबका अपना अपना आकाश होता है। इसलिए जो जैसा है उसे वैसा ही क्यो न स्वीकार करें हम ! माचवे को माचवे ही रहने दें। अपने मानक उन पर क्या लादें। उनकी अपनी सीमाएँ हैं अपनी मान्यताएं हैं और वे उनकी रचनाओं मे बहुत स्पष्ट हैं।

वे कहाँ कहा नही रहे। देश विदेश घूमे। अमरिका के विश्वविद्यालयो मे पढाया। प्राध्यापक रहे, आकाशवाणी मे काम किया। सघ लोक सेवा आयोग के भाषा अधिकारी के पद पर काम किया। उसके बाद बारह वर्ष तक साहित्य अकादमी से जुडे रहे। पाँच वर्ष तक उसके सचिव भी रहे। यहाँ जैसे उन्हे प्रतिभा के अनुरूप वातावरण मिल गया था। अन्त मे सन् 1978 से 1985 तक वे भारतीय भाषा परिषद कलकत्ता के निदेशक रहे।

वैसी ही व्यापकता उनके लेखन मे है। प्रखर कवि मनोविश्लेषणवादी सज्ञा प्रवाह वाले उपन्यासकार—हास्य व्यग्य भी उसी सहजता से लिख लेते हैं। दशन, इतिहास समीक्षा कोश निबन्ध कुछ भी नही छूटा उनसे। चित्रकार भी हैं वे। अनेक महान व्यक्तियों के सुन्दर रेखाचित्र उकेरे हैं

प्रभाकर माचवे

उन्होंने। उनके अनुरूप सम्मान भी मिला है उन्हें पर अभी उनके काय का सम्यक मूल्यांकन होना शेष है। कमलेश्वर ने उनके सम्बन्ध में उचित ही लिखा है 'माचवे जी भाषा और साहित्य की ऐसी नदी हैं जो निरन्तर बहती रहती है। माचवे नाम की इस नदी ने कभी नहीं पूछा कि तुमने मेरे पानी का क्या किया।"

नदी कभी नहीं पूछती। वह तो दान करने का गर्व भी नहीं पालती। सहज भाव से समुद्र को समर्पित हो जाती है और समुद्र उसके जल को स्वीकार करके फिर उसे ही लौटा देता है मेघ के रूप में। वह लौटाना मात्र नदी को सुख नहीं देता बल्कि समूचे वातावरण को आह्लाद और आनन्द से आप्लावित कर देता है। पाने में सुख है, देने में आनन्द है। आनन्द सुख से ऊपर है। माचवे उसी आनन्द के अधिकारी हैं।

शुरू में मैंने कहा है कि हम संयोग से मिले किसी योजनाबद्ध रीति से नहीं लेकिन फिर भी प्रत्यक्ष में भिन्न होकर भी अभिन्न ही रहे। यह अभिन्नता मात्र नाम साम्य के कारण नहीं एक सीमा तक विचारसाम्य के कारण भी है। उनके साहित्य में जिन मूल्यों का निरूपण हुआ है वे मेरे भी प्रिय हैं। वे प्राय हँसते-मुस्कराते रहते हैं। संकट में भी संतुलन नहीं खोते। वेश-भूषा नितान्त साधारण, अकृत्रिम। शिकायत वे करते हैं पर समझौता नहीं करते। ऐसे व्यक्तियों के प्रति मेरे मन में आदर ही नहीं स्नेह भी है। वे मुझे अपने लगते हैं। द्वाभा उनका एक प्रयोगधर्मी उपन्यास है। नर नारी के सम्बन्धों की सही पहचान की तलाश है उन्हें। मैं भी इसी समस्या को लेकर ग्रस्त हूँ। माचवे का कहना है कि मेरे मन में स्त्री तथा पुरुषों को अधिकाधिक सहशिक्षा ही नहीं उन्हें परस्पर सम्पर्क में आने के अधिकाधिक अवसर कर्मक्षेत्र में ज्यों ज्यों मिलेंगे—यौन प्रश्नों पर जो घनीभूत पर्दा डाला गया है वह हटकर खुली हवा आवेगी। कर्म तथा चिन्तन के क्षेत्रों में उसी मात्रा में मानसिक स्वास्थ्य आवेगा।

यद्यपि इतना ही काफी नहीं है पर एक सीमा तक यह बात सही है और माचवे जी ने इस उपन्यास में इसी दृष्टि से स्त्री पुरुषों के सम्बन्धों को समझने और सुलझाने की चेष्टा की है। इससे भी आगे बढ़कर शकरन के शब्दों में उन्होंने नारी को क्षण भर की प्रेयसी परन्तु अनन्त काल की

माला' मान कर समस्या का समाधान तलाश करन की राह दिखाई है यह बहुत महत्वपूण है।

इसी प्रकार अपन खण्डकाव्य विश्वकर्मा' म उन्होंने सूय के जिस सौम्य रूप को दखा ह वह आज के मत्र युग स त्रस्त मनुष्य क सजीवनी के समान है। पुराणो के प्रतीको की पुनर्व्याख्या करत हुए उन्होंने अध्यात्म और विज्ञान क सघष के दुष्परिणामो की ओर ध्यान आकर्षित किया है

> बार बार ज्ञान को बटारने का निर्विघ्न
> बार बार करता है वही वही मूखता
> जैस युद्ध सहार परस्पर अपकार।

इस काव्य के अन्त म आज के विज्ञान से निर्मित सहारक अस्त्रो से त्रस्त मानव के लिए जो सन्देश कवि ने दिया है वही समस्या का समाधान है कि किसी मनुष्य को सूय बनने का सौभाग्य नही मिल सका हम इतना ही सोचें कि हम सब प्रकाश पथगामी हो।

यह प्रकाश पथगामी होना ही शाश्वत खाज है और यही सहारक-शक्तियो से मुक्त हाने का माग है। आज विश्व की दो बडी सहारक शक्तियाँ इसी प्रकाश पथ की खोज मे व्याकुल हैं। खोज की इस व्याकुलता के कारण ही मुझे लगता है कि माचव जी मेरे बहुत पास हैं। यह पास होना रूप का नही भाव का है। वे जीवन के सत्तर वष पूरे कर चुके हैं। प्रकाश की खाज का उचित अवसर अभी आया है। मेरी कामना है वे मजिल (सूय) की चिन्ता किये बिना प्रकाश पथ पर निरन्तर आगे बढ़ते रह और नयी पीढ़ी को प्रेरणा देते रह।

प० बनारसीदास चतुर्वेदी

अनुराग से पूव की एक स्थिति होती है उसे कहत हैं पूव-राग। यही तो वह स्थिति है जहा परिचय सुलभ होता है। न जाने क्या मुझे अनुराग से पूव राग कही अधिक प्रिय है। अनुराग की स्थिति मे पहुँचत न पहुचत तो व्यक्ति आलोचक हो रहता है। राग पीछे छूट जाता है।

चतुर्वेदी जी क प्रति मैं अपन उसी पूव-राग की चर्चा करना पसद करूँगा। चक्षु राग से पूव भी एक राग होता है, उसे आज क सदभ म कहूँगा कीर्ति राग। विशाल भारत' के ख्यातिनामा सपादक पण्डित बनारसीदास चतुर्वेदी की कीर्तिगाथा से मेरे जैसे नवलेखक का आतक्ति हो उठना स्वाभाविक ही था। साहित्य के समरागण म न जाने कौन कौन से दिग्गजो को पछाडा था, न जान कितने आन्दोलन उन्होन चलाए थे। मैं स्वीकार करूँगा कि यह प्रवत्ति मुझे रुचिकर नही थी फिर भी 'विशाल भारत' मरी प्रिय पत्रिका थी और उसके सपादक के प्रति स्नेह और आदर का भाव मेरे मन मे था। इसके अतिरिक्त यह भी मुझ तक पहुँच चुकी थी कि चतुर्वेदी जी वतमान भारत की दो विभूतियो—महात्मा गाधी और कवि ठाकुर—क पण्डा भी हैं। तब मैं आतक्ति न होता तो क्या होता ?

तब तक मैं स्वय भी लिखन की चेष्टा करने लगा था। आयसमाजी तो था ही और चतुर्वेदी जी थे पण्डित नाथूराम शर्मा शकर तथा पण्डित पदमसिह शर्मा आदि मरे प्रिय लेखको के प्रशसक। सभवत इसी बात से प्रोत्साहित होकर मैंने एक रचना विशाल भारत के सपादक को भेजी

थी। आशा भी की थी कि रचना छपेगी, लेकिन हुआ यह कि कुछ दिन बाद वह वैसी की वैसी ही लौट आयी। याद नहीं आता कि सपादक का 'खेद' भी पा सका था या नहीं। लेकिन क्रोध तो निश्चय ही आया था।

आज उस घुंध के पार देखने की आवश्यकता नहीं है लेकिन इतना जरूर निश्चित है कि तब यह बात मेरे मन म किसी भी तरह नहीं आयी होगी कि एक दिन उन्ही आदरणीय सपादकजी के इतना निकट जाने का अवसर मिलेगा जिन्होंने मरी रचना लौटा दी थी।

4 जनवरी, 1941 का दिन था। जोन टिकट लेकर घूमते-घूमते मैंने पाया कि ओरछा राज्य की राजधानी टीकमगढ जा पहुँचा हूँ। चतुर्वेदी जी उन दिनो वही रहकर मधुकर पाक्षिक का सपादन कर रहे थे और उनके सहयोगी थ श्री यशपाल जैन। वस्तुत इस यात्रा का उद्देश्य यशपाल जी क पास जाना ही था। यदि यशपाल न होते तो मैं चतुर्वेदी जी के पास जान का साहस न कर पाता।

अब मैं उन दिनो का वणन करूँ

4 जनवरी, 1941। बादल थे पर सर्दी नहीं थी। ललितपुर से सवेरे दस बजे बस द्वारा टीकमगढ के लिए रवाना हो गया। धरती पथरीली है, पर वृक्षा का अभाव नहीं है। माग म दो नदियाँ भी मिली। आस पास क दृश्य सुन्दर भी लग। वन मुझे सदा आकर्षित करते हैं।

यशपाल नगर से बाहर रहते हैं, तब यह मालूम नहीं था। सीधे टीकमगढ पहुँच गये। उसे नगर कहना नगर का अपमान करना है। नितान्त गदा गाँवडा जसा ही था। हा, बाहर क दृश्य सुन्दर थे। ताल के किनारे शायद राजमहल है। नगर मे पहुँचकर गलती मालूम हुई लेकिन चतुर्वेदी जी का नाम सुनकर बस वाला हमे वापिस लाने के लिए तैयार हो गया। उनके नाम के कारण पुलिस वालो ने भी अधिक जाँच-पड़ताल नहीं की। उन दिनो प्रत्येक वैसी रियासत म पुलिस प्रत्येक आने जाने वाले का अता-पता रखती थी। हम जैसे खद्दरधारियो पर तो विशेष कृपा थी।

कुण्डश्वर सुन्दर स्थान है। नदी किनारे भवन, प्राकृतिक दृश्यो से घिरा, नाना प्रकार के पेड पौधे, वन म बन्दर हैं तो चीतल भी हैं। याद

करते ही दूर बन म चीतल दिखाई दिए। उन स्वणमगो को देखकर बहुत अच्छा लगा। बताया कि तेंदुआ आदि अन्य पशु भी हैं। कहाँ यह मनोरम प्रकृति और कहाँ वह गदा गाँवडा जहाँ मक्खियाँ ही प्रमुख थी।

याद है कि जाते ही चतुर्वेदी जी से भेंट नही हुइ थी। शायद वे सो रहे थे। कुछ देर बाद उठे तो उन्होंने यशपाल जी को पुकारा। पहली बार उनका स्वर सुना। उसम आत्मीयता का स्नह था, अह का दप नहीं। यह भी अच्छा लगा।

भेंट होने पर पाया कि वे बडे सज्जन और हँसमुख हैं। बहुत बातें हुई।

सध्या को घूमने निकल पडे। हाथ मे डडा लिए चतुर्वेदी जी बडी फुर्ती से चल रहे थे। गाधी टोपी पाजामा, लम्बी कमीज और छोटे खादी कोट मे वे सचमुच घुमक्कड स लगते हैं। पेट के रोगी होन पर भी सदा प्रसन्न, सदा जवान। पेट के रोगी प्राय चिडचिडे हो जाते हैं।

नदी किनारे पत्थरो पर बैठे प्रकृति की छटा निहारते रह। वृक्षों के बीच मे स होकर नदी का घुमाव मन को बहुत भाता है। वस भी नदी किनार बैठना मुझे अच्छा लगता है। सजक और योगी दोनो क लिए ही आदश स्थान है।

बातो की कोई सीमा न थी। एक विषय स सहसा ही दूसरे किसी अप्रासगिक विषय पर एसे कूद जात कि अचरज हो आता। 'नेविलसन म जोखिम लेन की प्रवृत्ति थी," इसकी चर्चा करते-करत चतुर्वेदी जी बोल, 'सत्यनारायण कविरत्न मे भी यह प्रवत्ति रही। अब पण्डित श्रीराम शर्मा मे भी है।'

यहाँ म न जान कैस गाया की चर्चा चल पडी। शायद मेर कारण। मैं उन दिना हिसार की सरकारी गऊशाला म काम करता था। प्रसिद्ध नसला की बात उठी कि चतुर्वेदी जी न बताया, बुन्देलखण्ड की गायें ता आधा पाव दूध ही देती हैं।" मैंन कहा "जी ऋषिवश की गायें तो दूध देती ही नही। म गावर दन के लिए प्रसिद्ध हैं।'

शायद हँसी का ठहाका लगा होगा, और भी बहुत सी बातें हुई हा।

हिन्दी म अच्छे पत्रकार नही हैं इसके लिए खेद प्रकट करत हुए उन्होंने

नये लेखकों को सलाह दी कि वे अधिक न लिखकर किसी एक पत्र में सुन्दर रचना प्रकाशित करवाएँ।

अन्धकार घिर आया था। मार्ग ढूँढना पड़ा, लेकिन बातों का क्रम फिर भी नहीं टूटा। चतुर्वेदी जी की लाइब्रेरी सुन्दर है। स०श्री एंड्रयूज, पद्मसिंह शर्मा और श्रीधर पाठक आदि गण्यमान्य व्यक्तियों की जीवनियाँ लिखने का काफी मसाला है। महापुरुषों और प्रियजनों के पत्रों का संग्रह तो अद्भुत है। भारत भर में इतना सुन्दर और इतना विशाल संग्रह तो कहीं भी न होगा।

रात्रि के भोजन पर भी खूब हँसे। टूंडला विश्वविद्यालय और डा० श्रीनेत गम्भीर होने ही नहीं देते थे।

तो पहला दिन इस प्रकार बीता। क्या प्रभाव पड़ा? इसकी चर्चा फिर कभी। आज तो मन मुग्ध है चित्त गद्गद है। यद्यपि यशपाल जी के एक मित्र के रूप में ही उन्होंने मुझे लिया, लेकिन फिर भी मैं था तो नितान्त अपरिचित ही। एक अपरिचित के प्रति इतनी सहज उन्मुक्तता गद्गद ही कर सकती है।

5 जनवरी 1941। सवेरे की चाय पर प्रवचन जारी रहा। यूँ चाय के साथ लड्डू भी थे लेकिन मन बातों में ही रमा था। चतुर्वेदी जी बोले, "नये लेखक को प्रोत्साहन देना चाहिए परन्तु अधिक प्रशंसा नहीं करनी चाहिए।" फिर बीच में ही डा० श्रीनेत का पत्र निकाल लाए और सुनाने लगे। सन 1931 का पत्र है। बड़ी विचित्र इंगलिश में लिखा है। हर संज्ञा के साथ एक अद्भुत विशेषण जुड़ा था। हँसी के मारे लोटपोट हो गए। और भी पत्र सुने। पत्रों का सचमुच अद्भुत संग्रह है। किसी दिन उनका प्रकाशन हो सका तो पत्र साहित्य की निधि प्रमाणित होगा। पत्र पढ़ते पढ़ते पत्र लिखने की कला पर भी बहुत बातें हुई। पण्डित पद्मसिंह शर्मा, श्रीयुत श्रीनिवास शास्त्री और महात्मा गांधी आदि कुछ ऐसे व्यक्ति हैं जो सचमुच पत्र लिखना जानते हैं।

भवन के पास ही जामडेर नदी पर कुण्डेश्वर का प्रपात है, वहीं स्नान किया। भोजन के बाद बाग में गए। बहुत बड़ा बाग है। अमरूदों के बहुत ही पेड़ हैं। फल भी सुन्दर हैं। बनारसी बाग में मीठे नीबुओं की बहुतायत

है। देखा उनके नीचे फल पडे सड रहे हैं। नीबुओ के पेड भी थ। उनक नीचे अमरूद जितने बडे बडे नीबू ढेरो पडे थे। कोई उठाने वाला ही नही था। बडा तरस आया। इतन गुणकारी फल और उनका इतना अपमान! पता लगा, इनको कोई छू नही सकता। छून पर कडी सजा मिलती है। बेशक वे सड जाएँ। और सचमुच व सडत रहत हैं। एक तरफ देश म भुखमरी, दूसरी ओर सामन्तशाही म ये बरबादी।

मीठे नीबू लेकर लौटे। चतुर्वेदी जी और यशपाल जी को इस बात का बहुत दु ख हुआ कि उन्हान अभी तक मीठे नीबू क्यो नही खाए। सच तो यह है यहाँ के लोगो की अक्ल पर पत्थर पडे है। व महूआ और कोंडो खात हैं और फलो को सडने दत है।

सन्ध्या को फिर वन भ्रमण का कायक्रम रहा। चारा घूमन के लिए निकल पडे। मेरा छोटा भाई मरे साथ था। जमनर और जामटर के सगम पर पहुच। दा नदिया का सगम मन को सदा तरगित करता है। घूम घूमकर घाट देख। वन म नयनाभिराम दृश्य देखे। क्या बताए क्या देखा और क्या न देखा। बातो का और हँसो का क्रम कही नही टूटा। कितने सुखदायी हैं जीवन के ये क्षण!

घर लौटकर फिर प्रवचन का क्रम चला। अनक साहित्यिक व्यक्तियो की चर्चा हुई। खूब हँसे। मैंन कहा, हम कल बाजार म पहुँच गए थ। बडी गन्दगी थी। मक्खियाँ ही मक्खियाँ। एक एक रसगुल्ले पर नौ नौ दस दस मक्खिया बैठी थी।

तो चतुर्वेदी जी तुरन्त बोल, यह तो बडा अन्याय है। मैं आज हा महाराज स शिकायत करूगा। हमारा आदेश था हर रसगुल्ले पर बारह मक्खिया बैठें। तीन कम क्यो थी?'

इसी तरह हँसत हसते लोट पोट होते रहे। हसन की यह प्रवत्ति चतुर्वेदी जी मे आज तक अक्षुण्ण है। मिलन पर खूब हँसते हैं। पत्रो क द्वारा भी खूब हँसात हैं और उसक लिए कर वसूल करत हैं।

उस दिन व मेरे घर पधारे थ। कमरे मे रहीम का एक दोहा लगा था—

रहिमन पानी राखिय, बिन पानी सब सून।
पानी गय न ऊबरे, मोती मानस चून।।

वे तुरंत बोले—रहीम आज होते तो इसे यूं लिखते

रहिमन पानी राखिये, भलीभांति उबलाय।
बिन उबले मैंसे बरा, टप्पू सुहाती चाय।।

दूसरा दिन भी बीत गया। क्या ये दिन अमर नहीं हो सकते? लेकिन मैं तीसरे दिन की चर्चा करूं।

6 जनवरी, 1941। आज कुहरा पड़ रहा था। हवा भी थी। वन से लौट कर चतुर्वेदी जी के पास जा बैठे। बस लगभग 10 बजे तक प्रवचन ही होता रहा। आरम्भ हुआ था यारों के एक वाक्य से, 'किसी से प्रेम करो और फिर रिपोर्ट करो।' यहीं से आरम्भ होकर बात साधना और तप तक जा पहुंची। बड़े व्यक्तियों का जिक्र आया, लेकिन श्री महावीर प्रसाद द्विवेदी के जीवन का वर्णन चतुर्वेदी जी ने जिस मार्मिक ढंग से किया, वैसा शायद किसी और का नहीं कर सके। उनकी दानशीलता, काम करने की क्षमता, सादगी, स्पष्टवादिता और पुराने शील की बातें, गुस्ताख का मटका देना, किसी के घर जाने पर खाली हाथ न जाने की रीति—कोई अंत नहीं था उनके गुणों का।

स्वामी रामतीर्थ का जीवन के अंत में संस्कृत सीखने का मोह हो आया था। माइकल ऐंजेलो विश्वप्रसिद्ध मूर्तिकार हुआ है। उसने एक मूर्ति बनाई थी। किसी ने उसे देखा और कहा, 'यह नंगी है और अश्लील है।'

मूर्तिकार ने उत्तर दिया, "पहले अपनी आंखों की अश्लीलता दूर करो।"

इस तरह की न जाने कितनी बातें वे कहते रहे। आज जाने का कार्यक्रम था लेकिन उन्होंने कहा, "आज नहीं कल जाना। शायद जैनेन्द्र जी भी आने वाले हैं।'

जाना स्थगित कर दिया, परन्तु जैनेन्द्र जी नहीं आए। भोजन

आराम, बाग म जाकर फल बटोरना और फिर घूमना। आज यशपाल द्वीप देखन गए। यहाँ का वन प्रान्त भयानक है। डर लगता है। लौटकर पता लगा कि पास मे ही तेंदुआ आ गया है। कल एक बछड का उठा ले गया था। आज इसी प्रसग का लेकर हँसी-मजाक हाता रहा। लेकिन कल ता चला जाना है।

7 जनवरी 1941 । कल तेंदुए की चर्चा हुई थी। वह बछड को उठा ले गया था। हम लोगा न निश्चय किया कि उसक स्थान का पता लगाया जाए। बस लौट और लाठियाँ उठाकर चल पडे। बहुत दूर तक बातें करते हुए वन क भीतर घुमत चले गए। मिला कुछ नहीं। दिन मे कहीं तेंदुआ मिलता है? जहाँ ले जाकर उसन बछडे को खाया था वह स्थान हम अवश्य ढूढ सके। उस वन प्रान्त म अकेले जात हुए डर न लगा हो सो बात नहीं। पर इस दुस्साहस स मन को आनन्द मिला। उस बार तेंदुआ नहीं दख सके लेकिन लगभग आठ वष बाद जब मैं दूसरी बार टीकमगढ गया तो एक सध्या का इसी प्रकार भ्रमण करत हुए जगली सूअर के दशन अवश्य किए। अधकार घिर आया था। हम लोग सडक के किनारे किनारे चले जा रहे थे। उस ओर स बैलगाडी आ रही थी कि सहसा हमारी बाइ ओर से वन के भीतर मे एक पशु तीर की तरह साधा उछला और दाहिनी ओर के वन मे गायब हो गया। हम उस चौंक जब ताग वाले ने चिल्लाकर कहा, जगली सूअर जगली सूअर।'

सहसा डर भी लगा और खुशी भी हुई कि जगली सूअर आया और चला गया। हम लोग सही सलामत बच रह। चतुर्वेदी जी म जोखिम उठाकर घूमने की यह प्रवत्ति सदा रही है। शायद यही उनको सदा मन से युवक बनाए रखती है।

आज दोपहर बाद जाना था। हँसन का क्रम पूवत चलता रहा लेकिन चतुर्वेदी जी साथ ही साथ हमार लिए चिटिठयाँ लिखत रह अखबार और लीफलट इकटठे करत रह और इस प्रकार चार दिन का वह कुण्डेश्वर प्रवास पूरा हा गया।

पूव राग के इन क्षणो मे क्या पाया यह आज अपनी जीवन सन्ध्या म भी ठीक ठीक नहीं बता सकूगा। इन वर्षों मे और भी पास आन क अव

सर मिले। पास आने पर ऐसा कुछ भी दिखाई देता है जो दया का मन नहीं करता। मतभेद भी होते हैं लेकिन जब जब भी दृष्टि उठाकर उस भूगोल में झाँकता हूँ तो मन का गदगद हो जाता हूँ।

2

चतुर्वेदी जी का स्मरण आते ही एक ऐसे विशाल वृक्ष का चित्र मन पर अंकित हो जाता है जिसकी स्निग्ध छाया में ही नहीं बल्कि ममता से पूर्ण शाखा प्रशाखाओं के बीच असंख्य प्राणी जीने की प्रेरणा पाते रहे हैं।

नारी के चार प्रमुख गुण माने जाते हैं—सच्चाई, सादगी, सहानुभूति और प्रशान्ति। इन्हीं गुणों के आधार पर वह पुरुषों को प्रभावित और आकर्षित करती है। लेकिन पुरुष को पाती वही नारी है जिसमें संवेदना होती है। नारी का यही अलभ्य गुण चतुर्वेदी जी में प्रचुर मात्रा में था।

लम्बी आयु पायी उन्होंने। और इस दीर्घावधि में कितने आन्दोलन चलाये, कितने व्यक्तियों को सान्त्वना दी उसका लेखा जोखा किसके पास है। उनके कई आन्दोलनों में असहमत हुआ जा सकता है परन्तु उनकी निष्ठा और ईमानदारी पर शंका नहीं की जा सकती।

सन् 1912 में उनका पहला लेख प्रकाशित हुआ था और सन् 1985 तक वे निरन्तर चलते रहे। तीन पीढ़ियों का यह लम्बा सफर अनेक कारणों से महत्त्वपूर्ण बन जाता है। स्वाधीनता संग्राम हो या हिन्दी पत्रकारिता, साहित्य सेवा हो या राजनीतिक दृष्टि से पीड़ित व्यक्तियों की सहायता का प्रश्न हो, हर क्षेत्र में उन्होंने अपनी छाप छोड़ी है। हर क्षेत्र में निर्भीकता से वे अपनी बात कहने से नहीं चूके। कभी-कभी उनकी यह निर्भीकता खुरदरेपन की सीमा तक पहुँच जाती थी। सत्य प्रायः कड़वा होता है।

अपनी अंतिम भेंट में जो उन्होंने आकाशवाणी के लिए रिकार्ड कराई थी, उन्होंने एक प्रश्न के उत्तर में कहा था—"निराला जी निस्सन्देह बड़े क्रांतिकारी लेखक और क्रांतिकारी कवि थे और उन्होंने छन्द को मुक्त करके हिन्दी की महान सेवा की थी। वह अच्छे कवि थे लेकिन साथ ही यह भी कहना पड़ेगा, उनकी आलोचना के ख्याल से नहीं, कि कभी कभी वह अपने असंयत आचरणों के कारण ऐसी चीजें भी लिख जाते थे जिनका कोई

अथ नही होता था। 'वतमान घम' नामक उनका एक लेख निकला था, जो शुरू मे आखीर तक ऊनजलूल था। उसके वारे मे पडित महावीर प्रसाद द्विवदी न मुझको लिखा था कि यह विक्षिप्त का बर्राना है पागल का प्रलाप है। कभी एकाध बार गलती उनसे हा गई थी, उस पर वह आन्दोलन 'वतमान धम' मैंन चलाया था इस पर मुशी अजमेरी जी न मुझे लिखा था कि वह ठीक नही है। व आजकल बीमार चल रहे हैं, इस आदोलन का बन्द करो, इसलिए उसे मैंने तुरन्त बन्द कर दिया था, लेकिन निराला जी के क्रातिकारी व्यक्तित्व पर भी विशाल भारत' म छपा था, वह निस्सदेह बडे क्रातिकारी कवि थ और छन्द को मुक्त करके उन्होने बडी भारी सवा की थी।'

इसी सम्बन्ध म मुझे एक घटना और याद आ रही है। पाडेय बचन शर्मा उग्र जी के साहित्य का लेकर उन्हाने उसके विरुद्ध एक एसा ही आन्दोलन चलाया था। विशेषकर उनकी पुस्तक 'चाकलेट' को लकर। गाधी जी से भी उस पर उनकी सहमति माँगी गई थी। चतुर्वेदी जी की आशा क विपरीत गाधी जी ने 'चाकलेट' की कहानियो को अश्लील नहीं माना। उग्रजी का अपराध यह था कि उन्होने समाज पर चोट करते हुए नग्नता को कला के झीन आवरण से ढकने का प्रयत्न नही किया था। बहुत वर्षों बाद 'चाकलेट' का फिर से प्रकाशन हुआ। और वह पुस्तक मर पास समीक्षा के लिए आई। उसे पढकर मैं चतुर्वेदी जी से सहमत न हो सका। निश्चय ही वे शिल्प की दृष्टि से सुन्दर रचनाएँ नही थी। लेकिन उनका उद्देश्य अश्लीलता का प्रचार करना भी नही था। यह दोना बातें मैंने अपनी समीक्षा म लिखी थी। उग्रजी ने उसे पढा और जब मुझस मिले तो बडी गम्भीरता स मेरी ओर देखते हुए बोले तुमने बडी सन्तुलित आलोचना की है। ठीक ही लिखा है।'

'ठीक ही शब्द इस बात का साक्षी है कि वह बहुत प्रसन्न नही थे। लेकिन चतुर्वेदी जी पर क्या प्रतिक्रिया हुई, यह मैं कभी भी नही जान सका। उन्हाने कभी मुझसे इस प्रसग की चचा नही की। लेकिन यह मैं मान ले सकता हूँ कि प्रसन्न वे भी नही थे।

चतुर्वेदी जी स्वभाव से मिशनरी जाति के व्यक्ति थे। जिस एक प्रश्न

को उठाते थे आजकल के नेताओ की तरह उसे उठा कर ही मुक्ति नही पा लेते थे बल्कि उससे निरन्तर जूझते रहते थे। घासलेटी साहित्य के विरुद्ध वे निरंतर लिखते रहे। 'किसके लिए लिखें' यह आंदोलन उन्होंने ही चलाया था। 'कस्मै देवाय हविषाविधेम्' किस देवता के लिए आहुति दूं मैं।

प्रवासी भारतीयो के लिए उन्होने क्या नही किया। इस समस्या के अध्ययन के लिए गाधी जी की प्रेरणा पर कांग्रेस ने उन्हे फीजी भी भेजा था। बाद में अपने दिल्ली प्रवास में उन्होंने फिर इस प्रश्न को उठाया और राजधानी मे प्रवासी भवन बनाने के लिए आन्दोलन छेडा। देश के लिए जिन्होंने प्राणो की बाजी लगाई थी, भले ही वे अहिंसा के पथ के पथिक रहे हो या हिंसा मे विश्वास करने वाले क्रान्तिकारी सबके लिए उनके दिल मे समान दर्द था। उनकी सहायता के लिए वे जीवन के अंतिम क्षण तक जूझते रहे। चन्द्रशेखर आजाद की माताजी हो या बिहार के क्रांतिकारी फुलेना प्रसाद की पत्नी हो, सबके लिए उन्होने आर्थिक सहायता की व्यवस्था कराई। हरियाणा के कमठ और क्रांतिकारी संन्यासी स्वामी केशवानन्द जी के लिए जो अभिनन्दन ग्रन्थ उन्होने तैयार करवाया था उसमे भी क्रांतिकारियो की ही गाथा प्रमुख थी।

मुझे याद है जनवरी, 1981 मे जब टीकमगढ़ मे उनके और भाई जन के साथ चार दिन बिताकर मैं दिल्ली लौटा तो मैंने उन्हे एक पत्र लिखा था। उसका जो उत्तर चतुर्वेदी जी ने मुझे दिया था 16 जनवरी, 1941 का, वह पत्र आज भी मेरे पास अमूल्य निधि की तरह सुरक्षित है। उन्होने लिखा है—

"तुम अदभुत व्यक्ति हो। मुझमे एक साथ प्रेम, सहानुभूति और सद्भावना कैसे पा सके ? पहला गुण तो मुझमे जरा भी नही है। दूसरे को मैं मात्र तरल भावुकता समझता हूं और तीसरा गुण है केवल शिष्टाचार। जो मैं अब तक नही पा सका, लेकिन पाना चाहता हूं वह है विनम्रता। जो हमसे सबसे साधारण है, उसके व्यक्तित्व के प्रति आदर और उसके साथ ही दूसरो के दोषो के प्रति उदारता।

प्रत्येक अतिथि वरदान स्वरूप है, वरदानो का दाता। इसलिए

तुम्हारे आगमन से मुझे प्रसन्नता ही हुई। राज्य के ज्योतिषि के अनुसार मुझे अभी 27 वर्ष और जीना है। इसलिए 54 बार मैं तुम्हारा आतिथ्य कर ही सकता हूँ। जब मन करे अदृश्य आओ। तुम्हारा ऐसा ही स्वागत होगा।

छोटे भाई को मेरा आशीर्वाद। जिनसे इस यात्रा म मिले हो उनसे सम्बन्ध बनाये रखो।

चीते (तेंदुए) के बारे मे फिर कुछ नही सुना। हम लोग दूर तक सान्ध्य-भ्रमण के लिए जाते हैं। और स्वास्थ्य हमारा अच्छा है।

अपनी साहित्यिक गतिविधियों के बारे मे सूचना देते रहो। और बताओ कि मैं तुम्हारी कुछ सहायता कर सकता हूँ? ज्येष्ठ होने क कारण भी मेरा कर्तव्य है कि तुम्हारे जसे नवयुवक मित्रो की सहायता करू। वास्तव मे मरे नवयुवक रहने का यही रहस्य है। प्रणाम।"

इस पत्र के साथ अपने प्रिय लेखक थोरो की एक उक्ति भेजना वे नहीं भूले—

'मनुष्य मात्र क लिए किसी भी रूप मे यदि मनुष्य कुछ कह सकता या कर सकता है तो यही ह कि वह अपने प्यार की कहानी कहता रहे, गाता रहे। और अगर वह सौभाग्यशाली है और जीवित रहता है तो वह सदा प्रेममय ही रहेगा।"

चतुर्वेदी जी थोरो के इसी प्रेम के प्रतीक थे। और यह प्रेम ही वह सवेदना है जिससे वे ओतप्रोत थ। अपने राजनीतिक विचारो म वे अराजकतावादी थे। प्रिंस क्रोपाटकिन इस क्षेत्र मे उनके गुरु थे। अराजकतावादी होन का अर्थ समाज मे अव्यवस्था फैलाना नही है। बल्कि इस या उस सिद्धान्त से ऊपर उठ कर सही व्यवस्था की तलाश करना है और यह तलाश बिना प्रेम के नही हो सकती। व गुरुदेव रवीन्द्र नाथ और महात्मा गाधी दोनो के पण्डा माने जाते थे फिर भी उन्होंने क्रान्तिकारियो के लिए क्या नही किया। अराजकतावादी होते हुए भी रूस का समर्थन करने स वे नही चूके। एक बार तो उन्होंने अपने को बोलशेविक ही कह दिया था। व जहाँ भी अन्याय और अत्याचार देखते उसका पूरी शक्ति के साथ प्रतिरोध करते। जहाँ भी सही बात दिखाई देती उसका

समथन करते। बहुत कम लोग जानते हैं कि उनकी देख रेख मे एक जनपदीय आन्दोलन शुरू हुआ था। उन्होंने बुन्देलखड जनपद के लिए पूरा प्रयत्न किया और उसके लिए 'मधुकर' नाम की एक पाक्षिक पत्रिका भी निकाली थी। उनकी यह मान्यता थी कि जिन्ह हम आज जनपदीय भाषाएँ कहते हैं, बुन्देलखडी, भोजपुरी, अवधी और ब्रज यह खडी बोली हिन्दी की सौत नहीं, माताए हैं। अपनी उपरोक्त भेंट म उन्होंने कहा था—

"जो मिठास जनपदीय बोलियो म है उस खडी बोली म नहीं लाया जा सकता। लेकिन उस मिठास को भी नष्ट नही होने देना है। घडी की सुइया को पीछे नही किया जा सकता। खडी बोली ने जो स्थान प्राप्त किया है वह रहेगा, रहना चाहिए और जनपदीय बोलिया को खडी बोली का समर्थक होना चाहिए। हिन्दी हमारी राष्ट्रभाषा है लेकिन घर पर हम अपनी मातृभाषा बोलने को स्वतन्त्र हैं।

चतुर्वेदी जी का एक और रूप था पत्रकारिता का। जीवन के अधिकाश भाग म व किसी न किसी पत्र से सम्बद्ध रहे। 'विशाल भारत' के सम्पादक के रूप म उनकी ख्याति देश भर मे व्याप्त थी। न जाने कितने लेखक उन्होंने पैदा किए। कितने पुराने पत्रकारो को प्रकाश मे लाए। इस दृष्टि से वह युग बहुत सवेदनशील था।

पत्र लिखने म तो वे अप्रतिम थे। विश्व भर क महान व्यक्तियो के पत्र उनके भडार म सुरक्षित हैं। यह अनूठा भडार अब भारत सरकार के पुरातत्त्व विभाग म पहुँच गया है। कोई साधक यदि इन पत्रो पर ही काम कर सके तो एक पूरे युग का इतिहास अपनी नई अवधारणाओ के साथ उजागर हो सकता है।

मेरे एक मित्र न मुझसे एक बार कहा था कि चतुर्वेदी जी पत्र लिखते समय यह अनुभव करते रहते हैं कि उनके ये पत्र किसी दिन प्रकाशित होंगे। उनकी यह धारणा शायद इसलिए बनी थी कि चतुर्वेदी जी पत्र लिखते समय कभी अग्रेजो मे लिखना शुरू करते थ तो बीच म हिन्दी म आ जाती। हिन्दी म शुरू करते तो बीच म अग्रेजी आ जाती। कभी कभी दोनो भाषाएँ एक साथ चलती रहती। कभी-कभी व एक ही पत्र म अलग-अलग स्याही का प्रयोग भी करते थ। कभी कुछ वाक्यों को लाल स्याही से रेखा-

कित कर देते या अन्त मे कुछ वाक्य लाल स्याही स लिख देते। कभी-कभी ब्रजभाषा म लिख देते थे वस्तुत वे किसी विशेष विचार पर जोर देने के लिए ही एसा करते थे। इस कारण उनके पत्रो म विचारोत्तजना के साथ साथ रोचकता भी रहती थी।

उनका अन्तिम पत्र मेरे पास 21 अप्रैल 1977 का है। जिसम उन्होने मेरे द्वारा लिखी गई भगतसिंह की जीवनी के लिए कृतज्ञता प्रकट करते हुए लिखा था कि दिल्ली मे श्रीमती विमला विद्यार्थी रहती हैं जो अमर शहीद श्री गणेश जी की सुपुत्री हैं। व बाईस वर्ष की आयु म ही विधवा हो गई थी। बडी मुश्किलो स उन्होने अपने बच्चो का पालन पोसा। उनका एक पुत्र चिरजीव अविनाश जो बारह सौ रुपये महीना पाता था ग्यारह महीने से बीमार है। मैंने कितने ही पत्र लिखे पर परिणाम कुछ नही निकला। कोई उनसे मिलने भी नही जाता। गणेश जी की सुपुत्री हम सबके लिए पूज्य हैं।

ऐसे न जाने कितने पत्र उन्होने कितने व्यक्तियो को लिखे। कसे भी गम्भीर विषय पर लिख रहे हो उन्हे सहसा किसी सकटग्रस्त व्यक्ति की याद आ जाती थी। और फिर उसी की व्यथा-कथा म बह जाते थे।

'आवारा मसीहा' के बारे मे मुझे उन्होने लिखा था—

आवारा मसीहा लिख कर निस्सन्देह आपने महान कार्य कर दिया। इसी प्रकार का एक और ग्रन्थ आप लिख दें।"

स्पष्ट ही उनका सकेत क्रान्तिकारियो की ओर था। सुप्रसिद्ध क्रान्तिकारी प० परमानन्द जी ने मुझसे यही चाहा था। लेकिन भगतसिंह की एक छोटी जीवनी लिखने के अतिरिक्त मैं कुछ और नही कर सका। क्यो नही कर सका यह अलग कहानी है।

जब वे राज्य सभा मे थे तब के दिल्ली प्रवास म हम लोग निरन्तर मिलते रहते थे। 'हिन्दी भवन' की स्थापना के लिए अनथक प्रयत्न किया था उन्होने। अन्तिम भेंट उनस जून, 1979 म ही हुई थी। स्व० भवानी प्रसाद मिश्र के साथ मैं भी फिरोजाबाद गया था। अस्वस्थता के कारण वे दिल्ली नही आ सकते थे इसलिए 'गगनाचल' के सम्पादक मडल की बैठक उनके घर पर ही रखी गई थी। वहाँ से लौटने के बाद उन्होने लम्बा पत्र

भवानी भाई के नाम लिखा। उसी पत्र की एक प्रति यशपाल जी के माध्यम से मुझे भी भेजी। हम लोग वहाँ गए। इससे हम लोग बहुत खुश थे। उस पत्र का वाक्य महत्त्वपूर्ण है—"हम दोनो किसी भी पार्टी म शामिल नहीं हैं। इसलिए समानशील और समानधर्मा भी हैं।" वे न कांग्रेस के चवन्निया मेम्बर बने, न साम्यवादी दल के। अराजकतावादी ही बने रहे पर इस पत्र म वह प्रवासी भारतीयो को नही भूले। उन्होने लिखा—

'आजाद भवन मे प्रवासी भारतीयों के लिए एक विशेष कक्ष खुल ही जाना चाहिए। जिसमे 'माडन रिव्यू', 'विशाल भारत' और 'प्रवासी' इत्यादि की पुरानी फाइलें भी हो। किसी जिम्मेदार व्यक्ति को अजमेर भेज कर स्वामी भवानी दयाल सन्यासी के प्रवासी भवन की जाँच पड़ताल भी करवा लेनी चाहिए।"

चतुर्वेदी जी वाक स्वाधीनता के भी प्रबल समथक थे। वे बडे गव से कहा करते थे कि 'विशाल भारत' मे रहते हुए मैंने रामानन्द बाबू के विरुद्ध लिखा था जब वह हिन्दू महासभा के अध्यक्ष बने थ। इस पत्र मे इस बात की चर्चा करते हुए उन्होने लिखा—

मैं अपनी वाक स्वाधीनता (फ्रीडम आफ एक्सप्रेशन) की रक्षा हर हालत मे करना चाहता हू। सन् 1921 25 के बीच म साबरमती आश्रम म जो असहयोग का गढ था मैं ही एकमात्र सहयोगी था, जो सरकार से तथा लिबरल लीडरो से निरन्तर सम्पक रखता था। यद्यपि श्री अटलजी का मैं कृपापात्र हूँ तथापि उनके वदेशिक विभाग की खरी आलोचना करने से मैं कभी नही बाज आऊँगा। लेकिन श्रद्धेय अटल जी के प्रत्येक शुभ कार्य मे मेरा योगदान रहेगा।"

वे जितन विनोदप्रिय थे उतने ही अपने प्रति लापरवाह भी थे। कपड़े सलीके से पहनना तक नही आता था उन्हें। गांधी जी के आश्रम म रहते हुए एक बार उनकी धोती की लाँग खुल गई। वे बेखबर चलते रहे। तब उनके छोटे पुत्र ने लाँग उठा कर हनुमान जी की जय बोलनी शुरू कर दी थी। ऐसी अनेक घटनाएँ हैं इन औघडदानी की।

अब अन्त मे एक व्यक्तिगत घटना का जिक्र करूँगा। मातृभाषा को यदि चतुर्वेदी जी की कोई देन है तो वह है उनके अनुरोध संशोधन और

रेखाचित्र । मुझे भी सस्मरण लिखन का शौक रहा है। मेरा पहला सग्रह 'जान अनजान' सन् 1960 म प्रकाशित हुआ था। उन्होंने उसे पढ़ा और मुझे लिखा—' 'जान अनजान' के दो रेखाचित्र या सस्मरण मैंने पढ़ लिए। एक तो स्वर्गीय रजन जी का और दूसरा स्वर्गीय सुधीन्द्र जी का। बहुत बढ़िया झाँकी उनके व्यक्तित्वों की आपन दिखाई है। स्वर्गीय सुधीन्द्र जी का वह चित्र भी जो मैंने उपाकुज पर दिया था इस ग्रन्थ म स्थान पा सकता है। दूसरे सस्करण म उस स्थान दीजिए और यह पुस्तक इन्ही की पावन स्मृति को समर्पित कीजिए। उपाकालीन चायामृत पान के बाद आपकी यह पुस्तक ही मैं देखता रहा। विष्णु प्रभाकर माचवे खूब रहा।'

इतना लिखकर ही उन्होन स तोष नही कर लिया। कुछ दिनो बाद हिन्दी निदेशालय म पुस्तको की खरीद होन वाली थी। व भी चुनाव करने वाले बोड म थ। निश्चय ही यह उन्ही के सकेत पर हुआ होगा कि निदेशालय ने उसकी दो हजार प्रतियाँ खरीद ली और वह पसा मुझे ठीक उस समय मिला जब मेरी बडी बेटी का विवाह होन वाला था। कल्पना की जा सकती है कि मेरे जैसे मसीजीवी लेखक के लिए कितना बडा वरदान प्रमाणित हुआ।

काश! चतुर्वेदी भी महात्मा गाधी की तरह अपनी योजनाओ को ठोस रूप दे पाते उन्हे काय रूप मे परिणत कर सकते। पर तब ये गाधी जी बन जाते बनारसीदास चतुर्वेदी न रहते।

शुरू मे मैंने कहा था कि चतुर्वेदी जी की याद करके मुझे एक विशाल छायादार वक्ष की याद आती है। उसकी विशालता की थाह लेना मेरे लिए सम्भव नहीं है। दूसरो के लिए जीयें ऐसा उपदेश बहुत लोग देते हैं पर तु जो सचमुच ऐसा करके दिखाते हैं, भविष्य उन्ही की चरण वन्दना करता है।

अपनी सारी दुबलताओ के बावजूद श्रद्धेय प० बनारसीदास चतुर्वेदी उन्ही विरल वन्दनीय पुरुषो की जाति के थ।

अपन जीवन के प्रारम्भ म व किसी नौकरी क प्रसग म किसी बाड के सामने उपस्थित हुए थ। अध्यक्ष न उनस पूछा कहिए चतुर्वेदी जी कब आये ?

अंग्रेजी मे उनका उत्तर था, "मर आई केम टूमारो। अर्थात् मैं बीते कल नही, आने वाले कल आया था।"

यह बात वह रस ले लेकर सुनाते थे और अपने पर हँसते थे, पर मुझे लगता है उन्होंने उस दिन सचमुच सही बात कही थी। वे कभी बीते कल मे नही जिये। जो आने वाला कल है वही सदा उनका रहा। काल की यही निरन्तरता उनके जीवन की निरन्तरता थी।

पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र'

उस दिन चिता पर रखे हुए उनके पार्थिव शरीर को अंतिम प्रणाम किया तो सहसा विश्वास नही आया कि वे अब फिर नही बोलेंगे। ऐसा लगा कि जैसे सो रहे हों। कुछ क्षण म उठ बैठेंगे और अपनी उग्र भाषा म भाषण देना आरम्भ कर देंगे। उग्र जी का व्यक्तित्व असामान्य था। वह कभी भी भीड मे एक बनकर नही रहे। उनके अंतमन म कुछ ऐसी ग्रंथियाँ थी जो उन्हें सदा उद्वेलित और असयत बनाए रखती थी। यदि वह लीक पर चलते तो उग्र कैसे होते?

उनसे मिलने स पूर्व मैं उनकी प्रतिभा का कायल हो चुका था। तब शायद विद्यार्थी ही रहा हूँगा। दिल्ली की मारवाडी लाइब्रेरी म 'चन्द हसीनो के खतूत' पढने बैठा तो पढकर ही उठा। पुस्तक बहुत बडी नहीं है परन्तु उसकी भाषा उसकी शैली और उसके दद न मेरे किशोर मन को अभिभूत कर दिया। आज भी याद है कि मैं कई दिन तक भरा भरा रहा था। कई व्यक्तियो स उसकी चर्चा की थी। इस क्षण उसके शब्द मुझ याद नही हैं लेकिन विभोरता की वह स्थिति आज भी अंतमन पर अकित है।

कई वष बाद जनवरी, 1941 म घूमता-घामता मैं इन्दौर जा निकला। तब तक लिखन लगा था और उन दिनो इन्दौर से प्रकाशित होन वाली 'वीणा' हिन्दी के तत्कालीन मासिको म प्रमुख स्थान रखती थी। मेरी कई कहानियाँ उसम प्रकाशित हो चुकी थीं। श्री कालिका प्रसाद दीक्षित 'कुसमाकर' उसक सपादक थे। मैं उनसे मिलन के लिए 'वीणा' के

कार्यालय म गया। वहाँ किसी व्यक्ति ने मुझे बताया, "दीक्षित जी तो आज नहीं आएँगे। उग्रजी यहीं पर हैं, उनसे मिल लो।"

मैं उछल हा उठा, "अच्छा, उग्रजी यहाँ पर हैं?",

वह बोले, "जी हाँ। वह पीछे क कमरे मे ठहरे हुए है।"

मैं सहसा साहस नहीं बटोर सका और जब उनकी ओर चला तब भी शरीर म कपन था। देखा कि समिति के विशाल प्रागण म एक अपेक्षाकृत ठिगन कद का व्यक्ति तहमद लगाय जोर जार से माली से कुछ कह रहा है। बाल उसके कुछ लम्बे हैं और उसने अपने दोनो हाथ पीठ पर बाँधे हुए हैं। बार बार एक हाथ को तजी से आगे बढाता है और क्यारी की आर इशारा करके माली से कुछ कहता है।

डरते डरत पास पहुचकर मैंने नमस्ते की। उन्होन सहसा गर्दन उठा कर मरी ओर देखा। मुख पर आवश था आँखें चढ़ी हुई थी। कुछ तलखी स पूछा, 'तुम कौन हो?'

मैंने झिझकते हुए अपना परिचय दिया। कहा 'अभी सुना है कि आप यहाँ ठहरे हैं इसलिए दशन करन चला आया हूँ।'

उन्होंने कहर भरी दृष्टि से मरी ओर देखा और तीव्र स्वर म कहा, "किस हरामजादे उल्लू क पटठे न तुमसे कहा कि मैं हरामजादा उल्लू का पटठा यहा ठहरा हूँ।"

सुनकर मेरी क्या दशा हुई इसकी कल्पना ही की जा सकती है। घोर आयसमाजी सदाचार का उपासक और नौसिखिया लेखक कुछ सूझ न पडा कि क्या कहूँ क्या न कहूँ। उन्होन मानो मेरी स्थिति को भाँप लिया। मन ही मन मुस्कराये भी होगे। बोले, "अच्छा तो तुम वही विष्णु हो जो कहानियाँ लिखता है।"

"जी हाँ।"

"लिखत रहो ठीक है।"

और फिर दो चार भारी भरकम गालियाँ दकर माली की आर मुखातिब हो गए। और मैं जान बचाकर वहा से भागा। उनकी प्रतिभा का मैं तब भी कायल था, लेकिन मैं उनकी भाषा से सहमत नहीं हो सका। और मुझे लगा कि इस व्यक्ति के अन्दर कुछ टूट गया है। और

कार्यालय म गया। वहाँ किसी व्यक्ति न मुझे बताया, "दीक्षित जी तो आज नहीं आएँगे। उग्रजी यहीं पर हैं, उनसे मिल लें।"

मैं उत्फुल्ल हो उठा "अच्छा, उग्रजी यहां पर हैं?",

वह बोले जी हाँ। वह पीछे क कमरे म ठहरे हुए है।"

मैं सहसा साहस नहीं बटोर सका और जब उनकी ओर चला तब भी शरीर म कपन था। देखा कि समिति के विशाल प्रागण मे एक अपेक्षाकृत ठिगन कद का व्यक्ति तहमद लगाये जोर-जोर से माली से कुछ कह रहा है। बाल उसके कुछ लम्बे हैं और उसने अपन दोनो हाथ पीठ पर बाँधे हुए हैं। बार बार एक हाथ को तेजी से आगे बढाता है और क्यारी की ओर इशारा करके माली से कुछ कहता है।

डरते डरत पास पहुचकर मैंने नमस्ते की। उन्होंने सहसा गदन उठा कर मेरी ओर देखा। मुख पर आवेश था आँखे चढी हुई थी। कुछ तलखी से पूछा, "तुम कौन हो?"

मैंने झिझकते हुए अपना परिचय दिया। कहा "अभी सुना है कि आप यहाँ ठहरे हैं इसलिए दशन करन चला आया हूँ।"

उन्होंने कहर भरी दृष्टि स मेरी ओर देखा और तीव्र स्वर म कहा, "किस हरामजादे उल्लू क पटठे ने तुमसे कहा कि मैं हरामजादा उल्लू का पटठा यहाँ ठहरा हूँ।"

सुनकर मेरी क्या दशा हुइ इसकी कल्पना ही की जा सकती है। घोर आयसमाजी, सदाचार का उपासक और नौसिखिया लेखक, कुछ सूझ न पड़ा कि क्या कहूँ क्या न कहूं। उन्होंने मानो मेरी स्थिति को भाप लिया। मन ही मन मुस्कराये भी होंगे। बोले "अच्छा तो तुम वही विष्णु हो जो कहानियाँ लिखता है।"

"जी हाँ।"

"लिखते रहो ठीक है।"

और फिर दो चार भारी भरकम गालियाँ देकर माली की ओर मुखातिब हो गए। और मैं जान बचाकर वहा से भागा। उनकी प्रतिभा का मैं तब भी कायल था, लेकिन मै उनकी भाषा से सहमत नहीं हो सका। और मुझे लगा कि इस व्यक्ति के अन्दर कुछ टूट गया है। और

वह टूटन इस काट रही है। वह उसे झेल नही पा रहा। गालियाँ उसी नपुसक क्रोध का प्रतीक हैं। आज भी मरी यही मा यता है। उनकी भाषा म जितना रोष-आक्रोश था और वाणी म जितनी उग्रता और अभद्रता थी, अ तर म वह उतन ही दुबल थ। और उस दुबलता का छिपान क लिए आज की चाँदी चढात रहत थ। शीशे पर चाँदी चढ़ जाता है तो वह दपण बन जाता है। लकिन उस दपण म आदमी अपन को ही दखता है। और जैसा दखना चाहता है वैसा ही देखता है। असली रूप को नही दख पाता।

उसके बाद उनको खूब पढा। उनके बारे म जाना, उनस मिला। प्रशसा और नि दा दोनो ही उनस पाइ। लकिन अपनी राय बदलन का अवसर नही पाया। हमशा यही लगा कि इस व्यक्ति को पारखियो न पहचानन मे गलती की है। और प्रतिक्रियास्वरूप इसन अपनी उपस्थिति का अनुभव करान क लिए इस अनगढ उग्रता को ओढ लिया है।

उनको लेकर घासलेटी साहित्य क विरुद्ध एक आ दोलन चला। तत्कालीन समाज की जो स्थिति थी और आयसमाज का घोर ब्रह्मचय वाला जो अतिसयमी आचरण तत्कालीन प्रबुद्ध मानस को ग्रस हुए था, उसम उग्र जसे व्यक्तियो को कोई कसे समझ सकता था। बडे उग्र रूप म उ होने समाज पर चोट की और नग्नता को कला क झीने आवरण स ढकन का प्रयत्न नही किया। बहुत वर्षों बाद चाकलेट' का फिर स प्रकाशन हुआ। उन कहानियो को पढकर मैं उस पुरान आन्दोलन से सहमत नही हो सका। निश्चय ही व शिल्प की दृष्टि स सु दर रचनाए नही थी लेकिन उनका उद्देश्य अश्लीलता का प्रचार करना भी नही था। उस पुस्तक की रिव्यू' करत हुए मैंने य दोनो बातें लिखी। न जान उग्र जी को कसे पता लग गया कि यह सब मैंन लिखा है। अचानक एक दिन कनाट सकस म उनस भेंट हो गई। बिना किसी भूमिका क मरी ओर बडी गम्भीरता स देखते हुए उ होन कहा, 'तुमन बडा सतुलित आलोचना की है। ठीक ही लिखा है।"

मैं जानता हूँ वह बहुत प्रसन्न नही थे। लकिन इन शब्दो न मरी उस धारणा को और भी पुष्ट किया कि इस आदमी को किसी न समझन का

चुका था। लेकिन फिर भी अग्रज की उपस्थिति में एक और अग्रज के मुख से इस प्रकार की भाषा सुनकर सकपका गया। लेकिन उग्र यह भाषा न बोलें तो उन्हें पहचाने कौन ?

कई वर्ष बाद वे दिल्ली आकर रहने लगे। तब उनसे बहुधा मिलना होता था। कनाट सर्कस के बरामदों में बहुत बार उनके साथ सैर की है। मिश्रा और अग्रजों के प्रति उनके आक्रोश को भद्दी भद्दी गालियों में बहते हुए देखा है। मुझे देखते ही वह छींटाकशी करने से नहीं चूकते थे। जैसे एक दिन बोले, "क्या यह छिले हुए आलू जैसा चिकना चिकना मुंह लिए हुए घूम रहे हो।"

एक बार तो मुझसे इतने अप्रसन्न हुए कि तीव्र भर्त्सना का पत्र लिख भेजा। मई, 1957 में भारत के प्रथम स्वाधीनता संग्राम की शताब्दी मनाई गई थी। उस अवसर पर आकाशवाणी से अनेक रूपक प्रसारित हुए थे। सबसे पहला रूपक मैंने ही लिखा था। उसका बहुत सीमित क्षेत्र था। मुझे उसकी पृष्ठभूमि पर प्रकाश डालना था। सामग्री बहुत कम उपलब्ध थी। और फिर वह एक डाकूमेण्ट्री रूपक ही तो था। संयोगवश वह साप्ताहिक हिन्दुस्तान में भी छपा। उग्रजी ने उसे पढ़ते ही तुरन्त मुझे वह भयानक पत्र लिखा। साथ ही साथ सम्पादक को भी खरी खोटी सुनाई। उसका सम्बोधन इस प्रकार था 'देखो जी महाशय विष्णु प्रभाकर। और अपने हस्ताक्षर इस प्रकार किये थे—'वही उग्र (चर्च नया पाठक)'।'

पत्र में मेरे नाम के साथ एक श्री के स्थान पर दस बार श्री लिखा था। मैं जानता था कि वह साप्ताहिक हिन्दुस्तान के सम्पादक श्री बाके बिहारी भटनागर से अप्रसन्न हैं। शायद मेरे द्वारा की गई 'चाकलेट' की आलोचना से भी वह अप्रसन्न हुए हों, अन्यथा रेडियो के आदेश पर लिखा गया वह रूपक इस योग्य नहीं था कि उसकी चर्चा की जाती। फिर भी मैंने अपनी स्थिति स्पष्ट करते हुए उन्हें पत्र लिखा। परन्तु न तो उन्होंने उसका कोई उत्तर दिया न मिलने पर ही इस बात की चर्चा की। उसी तरह मुक्त भाव से मिलते रहे। एक बार मैंने उनसे कहा 'उग्रजी कृपया आप एक बार मेरे गरीबखाने पर भोजन करने पधारिये।'

तब वह पान की दूकान पर पान खा रहे थे। एक पान मेरी ओर भी बढाया। वाले, "साच लिया है?"

मैंन कहा, "इसमे सोचन की क्या बात है? आप अग्रज हैं, आपको आना चाहिए।"

वह मुस्कराए। केवल इतना ही कहा, "ठीक है, अच्छा।"

लेकिन सहसा दूसरे व्यक्ति की ओर देखकर उन्होने कहा, ' हम बहुत स लोग घर पर बुलाते हुए डरते ह।"

उस व्यक्ति न पूछा, क्या?"

तलखी से बोले, "साला के घर म जवान लडकिया, बहुएँ जो होती हैं।"

मैं स्वीकार करूँगा कि मुझे यह सब अच्छा नही लगा। लेकिन उग्रजी तो उग्रजी थे। उनका अप्रतिभ होत मैंन एक ही बार देखा। आकाशवाणी पर कवि सम्मेलन था। दिल्ली क सभी प्रमुख साहित्यकार निमन्त्रित थ। उग्रजी थे, दद्दा मथिलीशरण गुप्त भी थे। सम्मेलन समाप्त होन पर अपन स्वभाव के अनुसार दद्दा सबसे मिलत घूम रहे थे। मैंने कहा, "दद्दा उग्रजी भी आए हैं।"

दद्दा तुरन्त यह कहत हुए, 'कहाँ हैं?" उनकी ओर लपके और उन्ह सामन पाकर बडे स्नह से उनस बातें करन लग। कुशल समाचार पूछा और वाले "कभी गरीबखान पर जूठन गिरान आइय न?'

उग्रजी न क्या जवाब दिया था ठीक शब्द याद नही हैं। निश्चय ही वह सयत उत्तर था। लेकिन चलत चलते एकाएक दद्दा बोले, "महाराज जी, आपन अपनी प्रतिभा का बडा दुरुपयोग किया है।"

उग्रजी हतप्रभ से देखते ही रह गए और दद्दा आगे बढ गए। यद्यपि इस स्पष्टता के पीछे स्नह ही था, फिर भी इसके दश मे कचोट तो था ही, पर उग्रजी एक शब्द नही बोले। शायद दद्दा के प्रति आदर क कारण, शायद स्थिति की आकस्मिकता क कारण।

अन्तिम बार मैं उनस जयपुर म मिला था। तब उन्ह पहली बार दिल का दौरा पडकर हो चुका था। एक छोटे स कमरे म वे लेटे थ। आस पास कई मित्र थे। उन्हे देखकर यही लगता था कि वह अस्वस्थ हैं। वसा

ही जीवन, वही मुक्तता। मुझे देखकर वह उठ बठे और काफी दर तक वडे स्नेह स बातें करत रहे। स्नेह उनम निश्चय ही था परन्तु उनका व्यग्य विद्रूप वाला रूप इतना उभर कर सामन आता था कि शेष सब कुछ उसम छिपकर रह जाता था। वह माना प्रतिक्षण वदला लेन की भावना से प्रेरित रहत थे। उनके साहित्य की शक्ति वेशक व्यग्य पर आधारित थी लेकिन उनम और भी गुण थे। वह तीव्र समाज सुधारक और खरे दश भक्त थे। विस्तार के बावजूद शैलीकार के रूप म वह सदा जीवित रहग। 'चन्द हसीनो क खतूत', महात्मा ईसा', 'बुधवा की बेटी' और अपनी खबर' जैसी उनकी रचनाए उनकी प्रतिभा का जयघोष करती रहगी। 'उसकी माँ' जैसी उनकी कहानी उनके उस रूप को उजागर करती है जिसकी ओर हमारा ध्यान नही गया है।

वस्तुत उनका व्यक्तित्व अदभुत मनोग्रथियो का समूह था। उन्होने जिस स्नेह समादर की अपेक्षा की वह उन्हे न ता जीवन मे मिला न साहित्य मे। वह जीवन भर अविवाहित रहे पर उस स्थिति को सह नही पाये। वह उन आक्रमणो की उपेक्षा भी नही कर सके जो उन पर हुए। अन्तर म टूट जाने पर भी अपनी उपस्थिति का अनुभव करान का कोई अवसर वह नही चूक। इसीलिए उनका व्यग्य दश अत्य त विपला और किसी सीमा तक दिशाहीन भी हो उठता था। लेकिन जसे झाग क नीचे शुद्ध सलिल बहता है उसी तरह उनके इस अनगढ अनियन्त्रित जीवन के पीछे एक सशक्त लेखक एक देशभक्त और एक स्नेही मनुष्य का हृदय भी छलकता था। उन्होन नये सिरे से फिर लेखनी उठाई थी। पर काल भग वान अचानक ही उन्ह हमारे बीच से उठा ले गए। लेकिन साहित्य क इतिहास मे वे सदा जीवित रहगे।

भगवती प्रसाद वाजपेयी

अनवरत संघर्ष और अध्यवसाय—यही हमारे सुपरिचित कथाकार श्री भगवती प्रसाद वाजपेयी का परिचय है। यूं तो सन् 1917 में ही उन्होंने साहित्य के क्षेत्र में प्रवेश पा लिया था परन्तु कहानी लेखक के रूप में वे सन् 1924 में, जब उनकी पहली कहानी 'माधुरी' में प्रकाशित हुई थी, प्रतिष्ठित हुए। तब से न जाने कितने युग आए और गए परन्तु वाजपेयी जी मौन मंथर गति से जीवन के अंतिम क्षण तक लिखते रहे। प्रेमचन्द युग से लेकर अकहानी के युग तक उनकी कला ने कोई रूप न पलटा हो, यह बात नहीं, परन्तु वे इतने सरल प्राण व्यक्ति थे कि अपने को कहीं आरोपित नहीं कर पाए। डगर डगर चलना ही जैसे उनकी नियति थी।

प्रेमचन्द ने पहली बार मनुष्य को कहानी में प्रतिष्ठित किया था। परन्तु मनोविज्ञान के क्षेत्र में मानव चरित्र के साधारण पहलू से वे बहुत आगे नहीं बढ़ सके। वाजपेयी जी ने साधारण से आगे बढ़कर असाधारण परिस्थितियों में मानव चरित्र का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण करने का प्रयत्न शुरू किया। यद्यपि जैनेन्द्र और 'अज्ञेय' की तरह उनकी रचनाओं में शिल्पगत और कलात्मक निखार नहीं आ पाया तथापि बोलचाल की सरल प्रांजल भाषा में उन्होंने यथार्थ के माध्यम से जीवन के व्यंग्य को बड़ी निर्ममता के साथ चित्रित किया। निम्न मध्य वर्ग के जीवन में गर्भित निराशाओं और असफलताओं को अपनाते हुए उन्होंने निरन्तर अपने कथा

साहित्य को विस्तार दिया।

प्रतीकों के माध्यम से स्थूल से सूक्ष्म की ओर चलने का प्रयत्न भी उनकी कला में नहीं दिखाई देता। उस समय यह सम्भव ही नहीं था। विदेशी कलाकारों से भी वे अनुप्राणित नहीं हुए। परन्तु अपने देश में उभरने वाली प्रत्येक विचारधारा को उन्होंने आत्मसात करने का प्रयत्न किया। उनका मूल लक्ष्य मानव-आत्मा की सार्वजनीन वेदना का चित्रण है। और वह चित्रांकन ममस्पर्शी न हुआ हो यह बात नहीं। 'निन्दिया लागी' उनकी एक सुप्रसिद्ध कहानी है। उसमें उन्होंने इसी वेदना के माध्यम से हृदयहीन समाज का बोलता चित्र अंकित किया है। रूप यौवन के लोभी आज के मनुष्य को व्यक्ति का दुःख-दर्द जैसे छूता ही नहीं। उस कहानी को लेकर 'चलते चलते' उपन्यास तक उनकी यात्रा काफी लम्बी रही है। वह अन्तर स्पष्ट देखा जा सकता है। 'चलते-चलते' में उन्होंने उसके नायक राजेन्द्र का आधुनिक यथार्थ के आधार पर चरित्र चित्रण किया है। वहाँ उन्हें एक साहसिक प्रगतिवादी के रूप में देखा जा सकता है। श्री पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी ने इसी राजेन्द्र को स्वर्ण के रूप में देखा और माना कि इस उपन्यास के गौरव के प्रति आस्थाहीनता का अंकन हुआ है। परन्तु दूसरा आलोचक कह सकता है कि यहाँ तक पहुँच कर लेखक ने आदर्शवाद की व्यर्थता को पहचान लिया है और एक ऐसे सत्य को स्वीकार कर लिया है जिसे हम झूठे आदर्शवाद के मोह में पड़कर प्रायः दबाने की चेष्टा किया करते हैं। हाँ, यह सत्य है कि शिल्प के स्तर पर उन्हें वैसी सफलता नहीं मिली। सहजता का अभाव उनकी सबसे बड़ी दुर्बलता है। इसीलिए इस उपन्यास में आन्तरिक संघर्ष का सम्यक निर्वाह नहीं हो पाया। हो पाता तो बख्शी जी को आस्थाहीनता का आभास न मिलता।

वाजपेयी जी कहीं कहीं दार्शनिकता के चक्रव्यूह में फँस जाते थे। परन्तु वह उनका क्षेत्र नहीं था क्योंकि उनके पास अपनी कोई स्पष्ट विचारधारा नहीं थी। वे तो निम्न मध्य वर्ग के जीवन के कलाकार थे। इसीलिए इन दुर्बलताओं के बावजूद उनकी लोकप्रियता अक्षुण्ण रही है। अकहानी के इस युग में भले ही हम उनको भूल जाएँ, लेकिन इतिहासकार उनके योगदान को कभी नहीं भुला सकेगा।

आज का साहित्यकार अपने को एकदम अजनबी समझता है। वाजपेयी जी भी जीवन भर अजनबी बने रहे। भले ही सदभ और अथ भिन्न रहा हो। अपनी विनम्रता, सादगी, अध्यवसाय-वत्ति और सघष इनके कारण ही वे पिछड़े जान पडते रहे। साहित्य और जीवन उनके लिए कभी दो नही रहे। एक अति साधारण ब्राह्मण परिवार मे उनका ज म हुआ। शिक्षा भी विशेष नही हुई। शुरू से ही सघष का सामना करना पडा। कुछ दिन अध्यापन किया। होमरूल लीग के पुस्तकालय मे पुस्तकालयाध्यक्ष रहे। 'ससार', 'विश्रम' और 'माधुरी' जैसे पत्रो का सम्पादन किया। चार वष तक हि दी साहित्य सम्मेलन के सहायक म त्री रहे। कई वष सिन समार म भी व्यतीत किए पर तु हर बार उ हें अपन साहित्य जगत म लौटना पडा।

सघष का यह मुख भी अद्भुत है। यही पर जिस वेदना से उनका साक्षात्कार हुआ वही उनकी साहित्यिक पूजी बनी। और इसीलिए निम्न मध्य वग के जीवन की निराशाओ और असफलताओ को सीमित क्षेत्र म ही सही, वे मार्मिक अभिव्यक्ति दे सके।

हि दी साहित्य-सम्मेलन के अबोहर अधिवेशन के अवसर पर वे साहित्य परिषद के अध्यक्ष चुने गए थे। तब उ होने जो अध्यक्षीय भाषण लिखा था वह उस समय तक के हि दी साहित्य की प्रगति का एक सीमा तक सही लेखा जोखा प्रस्तुत करता है। उस पर उनके अध्यवसाय और ईमान दारी की स्पष्ट छाप है। पहली बार तभी उनसे मिलने का मुझे अवसर मिला था। मेरे मन मे उनके प्रति सहज श्रद्धा थी। अस्वस्थ होने के कारण मैं अबोहर तो नही जा सका था पर वहाँ जाते हुए वे दिल्ली मे स्वय मेरे घर आए थे। वे सहज भाव से मेरी चारपाई पर मेरा लिहाफ पैरो पर डाल कर आ बैठे थ। उनकी सहज सरलता और आत्मीयता से मैं तब अभिभूत हो उठा था। मैं इस क्षेत्र म नया था, पर तु उ होने न केवल मेरी ही चर्चा की थी, बल्कि उचित मूल्यांकन करने का प्रयत्न भी किया था।

तब से लेकर अ त तक मैंने उ हे उसी तरह सहज, सरल और सहृदय पाया। कही भी कुछ भी नही बदला उनमे। वस्तुत वे इतन सरल प्राण

थे कि उनको लेकर अनेक चुटकुले प्रचलित हो गए थे। वे जानते थे कि वे आज उपेक्षित हैं। उस दर्द को व्यक्त होते भी मैंने देखा है। परन्तु उसने उनकी कलम की धार को कुंठित नहीं किया। शायद इसके पीछे जीवन की माग का आग्रह भी था। एक दिन मैंने उनसे पूछा "आप अपनी रचनाएँ एकमुश्त क्यों बेच देते हैं, रायल्टी पर क्यों नहीं देते ?"

वे एक क्षण मौन रहे। फिर बोल उठे— 'विष्णु जी, मैं आपकी बात समझता हूँ लेकिन क्या करूँ। मुझे तुरन्त पैसा चाहिए। मैं रायल्टी का इंतजार कैसे कर सकता हूँ ?

तब मैंने सोचा था, काश ! जीवन निर्वाह के लिए इन्होंने कोई और रास्ता अपनाया होता। फिल्म जगत में शायद वे इसीलिए गए थे। पर वह दुनिया उन जैसों के लिए नहीं बनी है। उन्हें वापस लौटना पड़ा। जीवन के अन्तिम क्षण तक उन्हें जो परिश्रम करना पड़ा उसे देख कर मन में जहाँ पीड़ा होती थी वहाँ एक प्रकार का आनन्द भी होता था। विश्वास होता था कि जब तक उनके शरीर में प्राण है तब तक वे जीवन को जीते रहेंगे। और वे जीते भी रहे।

जब जब भी वे दिल्ली आते थे प्रायः मुझसे मिलने का प्रयत्न करते। नई दिल्ली के बरामदों में बड़ी देर तक उनसे बातें की हैं। अपने दुःख-दर्द की परिवार की बातें करते करते वे अन्तर्मुखी हो उठते थे। उस दिन मैं अस्वस्थ था। आग्रह के साथ वे मुझसे मिलने आए। बहुत देर तक बातें करते रहे। फिर सहसा बोले—' विष्णु जी एक नाटक लिखना चाहता हूँ। तुम तो इस कला में दक्ष हो। तुम्हारा सहयोग चाहिए।"

मैंने कहा, ऐसी बात नहीं है। फिर "

मुझे बीच में रोक कर उन्होंने कहा, नहीं, नहीं, तुम मुझे बहुत कुछ सिखा सकते हो। मैं लिखूंगा।'

नहीं जानता उस नाटक का क्या हुआ। पर उनकी इस मुक्त स्वीकारोक्ति से मैं असमंजस में पड़ गया था। आखिर सरलता की भी एक सीमा होती है। ऐसे ही एक दिन मैंने उनसे कहा— 'वाजपेयी जी, क्या आपको मालूम है कि आपकी एक कहानी का रूसी भाषा में अनुवाद हुआ है ?

विस्मय-विमूढ वे कई क्षण मेरी ओर देखते ही रहे। उनकी वह दृष्टि जैसे मुझे वेध रही हो। मानो कहते हों, 'क्या मजाक करते हो!' बोले, "सच।"

मैंने कहा "मैं आपको अभी दिखाता हूं। आपके पास इसकी एक प्रति आनी चाहिए थी। विश्वास रखिए इसका पारिश्रमिक आपके नाम से उनके हिसाब में जमा होगा।'

वे चकित से बोले थे—"इसका भी पैसा मिलेगा? कैसे? कब?"

मैंने कहा, "जब आप मास्को जाएँगे, तब।"

वे बड़े जोर से हँसे। और फिर कुछ एक क्षण बालसुलभ सरलता से पुस्तक देखते रहे। अन्त में गद्‌गद होकर बोले "विष्णु जी, आज आपने सचमुच"

वाजपेयी जी हिन्दी साहित्य के एक ऐसे पात्र होकर रह गए थे जिनके साथ न तो समय ने न्याय किया और न आलोचकों ने। पूंजीवाद के शोषण का युग अब बीत गया है। कुण्ठाओं को स्वर देने का युग भी अब बीत रहा है। परम्परा से मुक्ति की छटपटाहट और उस पीड़ा को झेलने का दावा करने वाले कथाकार आज अत्यन्त कटु हो उठे हैं। वाजपेयी जी उनकी दृष्टि में जीने की अनधिकार चेष्टा कर रहे थे।

हम एक ऐसे युग में आ गए हैं जिसकी अवधि निरन्तर क्षीण हो रही है और प्रयत्न करने पर भी उसकी गति के साथ एकात्मता बनाए रखना असम्भव है। सुधार आदर्श, क्रान्ति, प्रगति, प्रयोग यथार्थ सभी से अनुप्राणित होते हुए भी वाजपेयी जी आज के युग में नितान्त अजनबी बन कर रह गए थे।

युग पलट गया, इतिहास भी उनको भूलने लगा परन्तु उनका संघर्ष कभी समाप्त नहीं हुआ। सहज सरल भाव से अपनी डगर पर चलते हुए वाजपेयी जी अपनी कला साधना से अवकाश ग्रहण नहीं कर सके। युग को पकड़ने का उनका प्रयत्न भी कभी समाप्त नहीं हुआ। शिल्प भले ही उनके लिए अगम्य रहा हो, परन्तु प्रेमचन्द युग की संतुलित राष्ट्रीय चेतना से आरम्भ होने वाली साहित्य-यात्रा निम्न मध्य वर्ग के कटु यथार्थ की अभिव्यक्ति तक पहुँच कर ही समाप्त हुई थी। मानवतात्मा की सार्वजनीन

वेदना, जिसको उन्होंने स्वयं भोगा था, उनके कथा-साहित्य में निरन्तर विस्तार पाती रही।

हम नहीं जानते कि उनके भीतर सम्मान और धन की भूख कितनी शेष थी, परन्तु इतना अवश्य जानते हैं कि वे थके नहीं थे। उनकी यात्रा का मुक्त प्रशस्त पथ उन्हें अन्तिम क्षण तक पुकारता रहा था।

पुत्र उनका कोई नहीं था। पत्नी की मृत्यु के बाद वे अन्ततः छोटी बेटी राधा के पास चले गए थे। वहीं से मुझे उनका एक पत्र मिला था। वे कापीराइट के बारे में जानना चाहते थे। वे प्रकाशकों से अपनी पुस्तकें वापिस लेना चाहते थे। पर वे कुछ कर पाते इससे पूर्व ही इस धरती पर उनकी छुट्टी समाप्त हो गई। वे अपने असली घर चले गए। यह दिसम्बर, 1970 की बात है। मई, 1973 के शुरू में वे चले गए। मेरी अन्तिम भेंट आज भी मेरे मानस-पटल पर एक करुण चित्र की तरह अंकित है। वे जब भी आते पैडियों में चढ़ते हुए स्नेह सिक्त स्वर से पुकारते, 'विष्णु जी हैं!"

मैं तुरन्त उठता। आदर से ऊपर लाकर फर्श पर अपने पास बैठाता और फिर हम दोनों नाना प्रकार की चर्चाओं में व्यस्त हो जाते। उस दिन न जाने किस विषय को लेकर चर्चा चल रही थी कि सहसा वे रुके और बोले "विष्णु जी आपको क्या बताएँ।"

उनके स्वर में कुछ ऐसा दर्द था कि मैं चौंक गया। दृष्टि उठाकर देखा तो उनके नयन सजल थे, वे कह रहे थे, आप तो जानते ही हैं मेरी पत्नी इधर काफी बीमार चल रही थी। घर में हम दो ही थे। मैं यथाशक्ति उनकी देखभाल करता पर उस दिन मैं न जाने कैसे कह बैठा 'अब हम भी तुम्हारी परिचर्या ठीक तरह से नहीं कर पा रहे। थक गए हैं। अब तुम चली जाओ।'

और अगले ही दिन वे चली गईं विष्णु जी, हमने ऐसा क्यों कहा, क्यों कहा ऐसा।

और वे बोल न सके। कण्ठावरोध हो आया था। आँखों से आँसू बहने लगे थे। तब उन्हें वे दिन याद आ रहे होंगे जब पत्नी के सारे जेवर बेच कर उन्होंने स्वदेशी स्टोर खोला था और सब कुछ चोरी चला गया था।

मैं स्वय विचलित हो आया था उस क्षण फिर भी सान्त्वना के कुछ शब्द कहन की चेष्टा मैंने की थी पर उनके कण्ठ और आखो से झरती ममान्तक पीडा को शब्दा मे व्यक्त करना असम्भव है। उसे मैं सचमुच उसी दिन अनुभव कर सका जिस दिन आखिरी आदेश देकर मेरी पत्नी न मुझसे अतिम विदा ली थी।

नारी के बिना कैसा असहाय है पुरुष ! उनके 11 पत्र मेरे पास सुरक्षित हैं। 21 अप्रैल, 1941 के पहले ही पत्र मे उन्होने अपना दिल खोल *दिया था। कैसी सादगी, कसी निश्छलता,* " मेरा आपसे परिचय रहा नही लेकिन मैं साहित्य-पुरुष के रूप मे तो आपको जानता रहा हूँ। आप मुझे सीनियर मानते हैं यह आपकी शालीनता है। किन्तु साहित्य-क्षेत्र मे साम्राज्यवाद का मैं समथक नही हूँ। हम लोग साथी हैं मेरी सब कहानियाँ आपको पसन्द नही आइ यह जानकर मुझे सचमुच प्रसन्नता हुई। कम मे कम आपकी इस सच्चाई और निर्भीकता का मैं बडी चीज मानता हूँ।"

अपनी स्थिति स्पष्ट करते हुए अन्त म उन्होने लिखा था "मैं तो इसको भी आवश्यक नही मानता कि आपको मेरी अथवा किसी अन्य कलाकार की कृतियाँ पसन्द ही आवें। साहित्य के अभ्युदय के लिए विचार स्वातन्त्र्य को मैं स्वीकार करने को तत्पर हूँ "

सन 1967 म 26 वष के बाद 'साप्ताहिक हिन्दुस्तान' मे मेरा लेख पढ कर उन्हान इसी भावना से लिखा

' आपके बहुतरे निष्कर्षो न मुझे बल दिया है। इसम कोई शक नही कि आपन जो कुछ अनुभव किया है उसे बहुत आत्मीयता से व्यक्त किया है। उसके लिए मैं आपका सदा आभारी रहूँगा।"

8 मई 1973 को दतिया मे छोटी बेटी राधा के पास ही उनका देहावसान हुआ। उन्ह 'एजायना पेक्टोरस' (एक हृदय रोग) हो गया था। 11 12-70 क पत्र म उन्हाने मुझे यह सूचना देते हुए लिखा—"डाक्टर कहत है अगर आप दस किलोग्राम वजन घटा लें और नमक कनई छोड दें ता फिर आकस्मिक हाट अटैक का डर नही रहेगा। साथ ही रक्तचाप भी सामान्य बना रहेगा। ठीक। मगर डायबिटीज के कारण शुगर छोड

ही चुका हूँ। अब ब्लड प्रशर के डर से नमक भी छोड दू तो खाऊँ क्या ?"

मैंन उन्ह यथोचित उत्तर द दिया था पर लगता है वे समझौता नहीं कर पाए और अपनी पत्नी की राह पर चले गए। सघर्षों से जूझता एक सरल प्राण व्यक्ति वही चला गया जहा से किसी को किसी की खबर नहीं आती।

प० भवानी प्रसाद मिश्र

सहसा प० भवानी प्रसाद मिश्र का नाम स्मृति पटल पर उभरते ही उनकी कविता 'गीत फरोश' की पक्तियाँ कानो मे गूजने लगती हैं, 'जी हाँ, जनाब मैं गीत बेचता हूँ।'

स्वय कवि के मुख से उनकी यह कविता मैंने बार-बार सुनी है और बार बार यह अनुभव किया है यह स्वय अपने द्वारा शब्दो म निर्मित उनका अपना प्रोर्ट्रेट है, अन्तर और बाह्य दोना का। उनके अन्तर की व्यथा जैसे उनके बाह्य रूप मे नाटकीय होकर रच बस गई थी। उसकी चित्रमयता, उसका व्यग्य, ये सभी किसी गहरी वेदना का ही रूपान्तरीकरण थे।

न जाने क्या था जो सदा कसमसाता रहा उनके भीतर और विवश कर देता रहा उन्ह मुक्त अट्टहास करने को और समझौता करने को भी। बहुत गहरे झाँकना होगा उनकी काव्य सरचना म उन्ह समझने के लिए। जितनी गहरी टूटन होती है हास्य उतना ही सहज मुखर होता है, 'झीनी झीनी चदरिया' वाला मोहक परदा।

उनका रोग, उनकी मृत्यु सब कुछ के पीछे एक निश्चित कारण था। अदभुत जिजीविषा थी उनमे, उसका मैं साक्षी हू। उस दिन सुप्रसिद्ध साहित्यकार श्री चतुरसेन शास्त्री के घर पर बेटी के विवाह का उत्सव था। अनेक साहित्यिक मित्र आमन्त्रित थे उस उत्सव मे। मिश्र जी भी थे। बारात आन मे अभी देर थी। शास्त्री जी ने हम लोगो के लिए प्रचुर मात्रा मे मिष्टान्न भिजवा दिया जिससे हमारे कहकहे और जीवन्त हो उठे। मिश्र जी मेरे एकदम पास बठे थे। खाने और कहकहे लगान मे वे सबसे

ऊपर थे कि तभी मैं क्या देखता हूँ कि वे हँसते-हँसते सहसा, सज्ञाहीन होकर, कटे वृक्ष की तरह मेरी गोद मे आ गिरे। इस आकस्मिकता स मैं हतप्रभ रह गया। सभी मित्र घिर आए मेरे चारो ओर। किसी तरह उन्हें उठाकर चारपाई पर लिटाया। इसी सज्ञाहीनता मे उन्हें कै भी हो गई। बेटी के विवाह म यह कसी त्रासदी। कोई डाक्टर को लेने दौडा तो, किसी न दिल की मालिश करने की सलाह दी। साँस अभी चल रही थी कि कै के दो मिनट बाद ही वे उसी आकस्मिकता से उठ बैठे जिस आकस्मिकता से गिरे थे और आश्वस्त करते हुए बोले, "मैं बिलकुल ठीक हू। आप चिन्ता न करें।"

हृदय पर गैस का दबाव था। वही बाद म हृदय रोग मे परिवर्तित हो गया। कै हो जान से वे सँभल गये और वे कहाँ हैं इस विचार ने भी उन्हे शक्ति दी। वे उसी मस्ती मे फिर बोले, "आप नाहक परेशान न हो, बस टैक्सी मँगवा दें, मैं घर जाऊँगा।"

मैंने कहा, "अकेले घर जायेंगे ऐसे मे ?"

वे अपने सहज नाटकीय अन्दाज मे बोले, "मैं बिलकुल ठीक हूँ भाई। यकीन मानिये, कुछ ज्यादा खा गया था और ।"

टैक्सी आ गई थी। वयोवृद्ध साहित्यकार प० उदयशकर भट्ट उठे, बोले "तुम अकेले नही जाओगे। मैं तुम्हे छोडता हुआ अपने घर चला जाऊँगा।"

अन्तत हृदय म पेसमेकर लगवाना पडा पर उनकी यह जिजीविषा अन्त तक बनी रही वही कहकहे, वही महफिलें। मृत्यु से पूर्व खण्डवा म खूब रमे। भाई रामनारायण उपाध्याय न लिखा है कि अन्त से पहले पत्र आया 'शेष ठीक है। यानी ठीक रहूँगा। शरीर 19 20 रहता है सो रहता है। कल की रात बुरी बीती अर्थात 3 4 दिन सावधान रहना है।

फिर भी वे आय, रलवे पुल को देखकर बोले, 'चढ जाऊँगा। जिन्दगी मे ऐसे बहुत पुल पार किये हैं लेकिन ऊपर पहुँच कर दम भर आया। जँगले से टिक कर खडे हो गये। बोले, 'भाई, कुछ बातें करते रहो। लोगो को ऐसा नही लगना चाहिए कि थक कर खडे हैं। लगना चाहिए कि बातें करन को खडे हैं।'

अपन दर्द छिपाने की यह प्रवत्ति उनके अन्तर म जैसे कुण्डली मार कर बैठ गई थी। लोग उनके दद को न जान। उनके काव्य ससार की यही सबसे बडी शक्ति हे। आप्त वाक्य तभी मचल पडते हैं ओठो पर।

उपाध्याय जी के उस लेख मे मिश्र जी को समझने की अनेक घटनाएँ हैं, बोले, "लाग कविता करना तो जानत ही नही, सुनना भी नही जानते। पण्डित भवानी प्रसाद मिश्र की कविता सुनकर कहते हैं एक कविता मेरी भी हो जाये। अब उन्ह कौन समझाए कि अच्छी रचना सुनन के बाद कुछ भी सुनने स साहित्य का स्वाद जाता रहता है।"

और एक ठहाका।

यह ठहाका सहस्र जिह्वाओ से बोल रहा था। बोलने की अपनी इस आदत से कभी कभी वे स्वय सजग हो उठते थे और जैसे पश्चाताप के स्वर मे कह उठते, "भाई मुझे इतना बोलना नही था। लेकिन क्या करूँ, बालन का लाभ सवरण नही कर पाता। जरा लम्बी जबान का आदमी हूँ।"

लेकिन एक दिन मैंन यह लोभ सवरण करते भी देखा। एक बार वे मेरे *गरीबखाने म जूठन गिराने के लिए आए थे। बहुत पुरानी बात है।* पर बच्चे उन्ह कवि के रूप मे पहचानते थे। उनकी इच्छा हुई कि भवानी भाई कोई कविता सुना दें।

वह बोले, "किसी दिन आकर खूब सुनाऊँगा पर आज आपके यहाँ भोजन किया है। कोई तो ऐसा हो कि ।"

सुनन पर प्रथम क्षण तो अच्छा नही लगा पर दूसरे ही क्षण मन गदगद हो आया—कोई तो ऐसा स्वाभिमानी है।

इसके और भी अर्थ लगाए जा सकते हैं। पर मैं जानता हूँ उनके मन म यही भाव थे कि भोजन तो निमित्त है। आपने मुझे स्नेह दिया है। उसका प्रतिदान मत मागा। मुझे स्वय देने दो।

मैंन उन्ह बहुत गहरे शून्य मे झाँकते भी देखा है। *उस समय वे वहाँ* होते थ जहा स उन्ह उनकी खबर भी नही आती थी। इस डूबने के बिना सृजन सम्भव होता ही नहा और दद सहने की यातना मे से गुजरना ही डूबना ह। भवानी भाई का सम्पूर्ण जीवन इसी दद इसी डूबने का इतिहास है। आश्चर्य, यह डूबना ही एकान्त से मुक्त होन की प्रेरणा देता है, बिहारी

कभी देशप्रेम के रूप मे।

लेकिन गाधी नीति की नीव पर पनपी उनकी तेजस्विता ने उन्हें अतिमा से सदा मुक्त रखा। इसीलिए जहाँ उन्हें कभी कभी चेतना से घब राहट होती है वही उनकी साधना उनके कवि को यह कहने को विवश कर देती है—

तकाजा मगर प्राणवत्ता का / रोज अनुक्षरण
हवा मे आवाज लगा रहा हूँ
दे सकने वाले तत्त्व / जीवन मे नहीं हैं।
मगर फिर भी किसी भरोसे के साथ
गोया उन्हे जगा रहा हूँ।

यही प्राणवत्ता कवि की नियति है। भवानी भाई ने इसी नियति को अपनी शक्ति बना लिया था। मैंने कहा कि उनके जीवन मे विकट त्रासदी थी। मेरा उनका परिचय भी तो एक त्रासदी को लेकर हुआ था जो नितान्त मेरी थी। बात सन् 1952 की है। तब वे 'चेतना प्रकाशन' हैदराबाद मे काम कर रहे थे। मेरा पहला उपन्यास 'ढलती रात' वहीं से प्रकाशित हुआ था। पर दफ्तरी की कृपा से उसकी 70 या 75 प्रतियाँ ही बिक सकी थी। शेष सब रद्दी म बिकती रही। 23 जुलाई, 1952 के पत्र मे उन्होंने मुझे सूचित किया, 'आपकी पुस्तक 'ढलती रात' के छपे हुए लगभग 1650 प्रतियो के फार्म्स हमारे जिल्दसाजो म से एक ने गायब किए और उन्ह रद्दी म बेच दिया।"

फिर भी उन्होंने आश्वासन दिया कि शेष प्रतियों का हिसाब मैं शीघ्र भिजवाने का प्रयत्न कर रहा हूँ। लेकिन उनके प्रयत्नो का कुछ परिणाम निकलता वे स्वय वहाँ से मुक्त हो गये। उसके बाद वे आकाशवाणी म आ गये। मैं भी सितम्बर 1955 म 1957 के माघ मास तक वहाँ रहा। मिश्र जी उससे पूर्व ही 1956 म "गाधी स्मारक निधि म सम्पादक" के पद पर चले गये। वहाँ से अवकाश प्राप्त करके 'गाधी मार्ग' के सम्पादक बन गये। साथ ही साथ भारत सरकार की सास्कृतिक सम्बन्धो की परिषद् की पत्रिका 'गगनाचल' का सम्पादन भी करते थ।

इन सब पत्रों से उन्होने मुझे जोडे रखा। उनके आग्रह-आदेश को सदा सम्मान दिया मैंने। उन्ही दिनो उन्हे पास से देखने का अवसर मिला। राजनीतिक हलचलो से भी जुडे रहे वे। भूख हडताल भी की। जयप्रकाश जी के सुप्रसिद्ध मुक्ति आन्दोलन से भी सम्बद्ध रखा अपने को। मैं भी कुछ दिन साथ रहा पर गाधी नीति के मार्ग का नही छोड सके और जैसा मैंने कहा, आवेश कभी कभी विचलित कर देता था उन्हे। सन 1980 की घटना है। 'गगनांचल' का 'प्रेमचन्द अक' निकाला उन्होंने, पर न जाने किस गलतफहमी के कारण वे प्रेमचन्द की रवीन्द्र और शरत से तुलना करते समय असयत हो उठे। वह लिख गये जिसके लिखे जाने की उनकी कलम से कतई आशा नही थी। यहाँ तक की शौम्य शान्त विमल मित्र के मुख से प्रेमचन्द के लिए कुछ ऐसे शब्द कहलवा दिये जो किसी भी प्रकार शोभनीय नही थे।

मैंने पढा। मैं हतप्रभ रह गया। तुरन्त उन्हे पत्र लिखा। विमल मित्र को भी लिखा। वे चकित रह गये। मुझे लिखा, 'मैं तो 'प्रेमचद पुरस्कार' पा चुका हूँ। मैं उनके प्रति अनादर का भाव रख ही नही सकता। मैं उन्हे महान लेखक मानता हूँ।"

मिश्र जी का जवाब आया 'आपका 2 नवम्बर का पत्र आज (27 नवम्बर) को देखा। मैं दफ्तर नही जाता इसलिए ऐसा होता है। 'प्रेमचद अक' पर आपकी टिप्पणी पूरी दे रहा हूँ। मेरे मन मे गुरुदेव, शरत बाबू और बकिम बाबू के प्रति पूरा आदर है। उनके महत्त्व आदि को मैं जानता हू तथापि यह सही है कि प्रेमचन्द का कैनवस उनके कैनवस से अधिक बडा है। यह ठीक है कि कला की दृष्टि से वे शरत और गुरुदेव के समकक्ष नही हैं। बात एक प्रसग म उठ गयी थी उसे टाला नही जा सकता था। टाल देता तो अच्छा था यह मैं मानूगा। यह मानना उनका वडप्पन था।

एक बार सम्भवत दिवाली के अवसर पर (13-11-82) उन्होने एक कार्ड पर मात्र एक कविता लिखकर भेज दी थी। वह उनके चिन्तन की प्रतीक है।

उठे स्वप्न की आभा मे ज्वाला सा मन
तन झुलस झुलस कर भी झूम आनन्द गगन
हर अधिकार म सिसक रही ममता का दुख दीन न हो
तम क्षीण अमावस का करने की यह इच्छा प्राचीन न हो।

कविता वास्तव म उनके जीवन म रच-बस गयी थी। उन्होने ऐसे ही एक प्रश्न के उत्तर म कहा था, 'अगर मैं कविता न करूँ तो जी नही सकता। कुछ लोग होते हैं जो कविता न भी करें तो जी सकते हैं। वे ऐसी मछलियाँ हैं जो पानी के बाहर भी जी लेती हैं, सरकारी पोखर म। अपन तो पानीदार मछली हैं।

अगर कोई मुझ स पूछे कि क्या मिलता है तुम्हे एसा। कविता लिखन से। कि तुम इस काम का खतम नही करत तो मैं गिना सकता हूँ। सौ बातें। ऐसे सैकडो दिन सकडो रातें। जो मुझ कविता की माफत मिली है और पहुचाया है जिन्हे मैंने दूसरो तक कविता के माफत।

अभी दो मिनट पहले जब मैं कविता लिखने नही बैठा था तब कागज कागज था। मैं मैं था और कलम कलम। मगर जब लिखने बैठा तब हम तीन नही रहे एक हो गय। इन तीनो चीजो का अलग अलग अस्तित्वो का एकाएक इतनी आसानी से एक हो जाना अपने आप मे एक करिश्मा है।

इस वक्तव्य मे गहरी वेदना है, व्यग्य भी है, और है कृतिकार का अहम्। दुरूह होती कविता म जनजीवन की सीधी साधक वाली के माध्यम से अन्तर तक उतर जाने की क्षमता पैदा करना उन्ही का काय था। इस क्षेत्र म अप्रतिम रहेगे। 'पाँव' नामक कविता म उनकी ये पक्तियाँ इस बात की साक्षी हैं—

सुबह की ठण्डी हवा कपडे नही हैं
पाव रखते हैं कही पडते कही हैं
पाव जिनम गति नही कम्पन बहुत है
प्राण मे जीवन नही तडपन बहुत है।

और एक दिन (22 मई, 1985) सुना कि वे चले गये चुपचाप। तब मन म उठा था कि एक ऊँचे कद का आदमी जीवन भर साधारण

आदमी की वेन्ना-व्यथा, अभिमान-अहकार यो भोगता हुआ न समाप्त होन वाली सडक पर आगे बढ गया। यह मरना नहीं है फिर फिर जीने की शक्ति पाने का माग है, जीवन का विस्तार है। और भवानी भाई तो मरन मे विश्वास ही नही करत थे। वह ता धुएँ और धूल के शहर म भी आदिम सुगध के बल पर जीत थे। उनके देहावसान का समाचार पाकर उनके एक परम भक्त आलना के डा० शांति लाल जैन न मुझे उनकी यह कविता लिख भेजी थी मानो अपने महाप्रयाण पर व स्वय हम बता रहे हैं

और मैं / विलीन हो गया / जैस तेज धूप म /
जूही की गध या जैसे / गहरे किसी गत म / छोटे
किसी झरने का छन्द / या जैसे सूरज क निकलते-
निकलत / भोर का तारा या जैसे /
नदी की धारा / समुद्र मे / और तुम हो यह तेज धूम
गहरे गत या आवत / और सूरज और समुद्र।

निश्चय ही व कही नहीं गये। हम मे ही विलीन हो गये हैं। अब हमें उनकी कविता सुनने उनके पास नही जाना होगा। जब जी चाहेगा मन का बटन दबाकर सुन लेंगे।

कि अब यही रहेंगे / यहाँ रहन वालो के साथ सहेंगे
अत्याचार/और ताकत सारी / अत्याचारी के खिलाफ
लगायेंगे / समझेंगे पछियो के गीत / हवा का क्रोध
आसमान का फैलाव / प्रवाह सोता का / यह सब
समझते हुए और थोडे मे रहत हुए / ज्यादा मे
रहने की इच्छा रखने वालो का क्रूर
मन लेकर वन मे आने को रोकेंग हम / समदर
अत्याचार का जसे भी बन / सोखेंगे हम।

महाश्वेता महादेवी

'महादेवी' नाम के प्रति मेरे मन मे ममता, श्रद्धा, आदर और सम्मान—ये सब भाव इस प्रकार गडमड हो जाते हैं कि पूजा और प्यार का अन्तर भूल जाता हूँ। यह इस कारण है कि मेरी माँ का नाम महादेवी था। अपनी सतान के प्रति दायित्व निभाने का जैसा प्रयत्न उन्होंने किया वैसा हर माँ नही कर पाती। वे मात्र ममतामयी ही नही थी, दूरदृष्टि भी थी उनके पास।

लेकिन इस क्षण तो मेरे सामने मेरी मा नही है हिन्दी-साहित्य की वे महाश्वेता महादेवी है जिनके लिए निराला ने लिखा था—

> हिन्दी के विशाल मन्दिर की वीणापाणी,
> स्फूर्ति चेतना रचना की प्रतिमा कल्याणी।

नाम-साम्य के कारण इनके प्रति भी मेरे मन म अनायास ही एक तरल भाव पैदा हो गया था। व आयु म मुझसे मात्र पाच वप बडी थी। मैं उन्हें दीदी कहता था लेकिन दीदी भी तो माँ जैसी ही होती है। जब मैं उनके हाथो से राष्ट्रीयता एकता पुरस्कार प्राप्त किया तो मुझे सचमुच लगा था जैसे मेरी मा ही मुझे आशीर्वाद दने धराधाम पर उतर आई हैं।

न जाने वह कौन सा वप था जब मैंने चाँद मे एक युवती का चित्र देखा था। उसके नीचे लिखा था—'महादेवी वर्मा जिन्होंने इस वप बी० ए० की परीक्षा पास की है। तब भी मैं किसी युवती के स्नातक होने से इतना प्रभावित नहीं हुआ था जितना 'महादेवी नाम के साथ दो अक्षर बी० ए०

जुडने मे। मनोवैज्ञानिक इसे क्या कहगे पर उनके वाद जव कभी भी इस नाम के साथ जुडा कुछ पढता तो मन अनायास ही पुलक उठता। मैं नहीं जानता कि उनकी यह प्रसिद्ध कविता मैंने कब पढी पर यह अवश्य अच्छी तरह याद है कि मैं उसे पढकर अभीभूत हो उठा था। आज तक वे पक्तिया मेरे मन के पटल पर अकित हैं।

मैं नीर भरी दुख की बदली
विस्तत नभ का कोई कोना
मेरा न कभी अपना होना
परिचय इतना इतिहास यही
उमडी कल थी मिट आज चली।

उनकी वहुत-सी अच्छी कविताएँ मैंने वाद मे पढी जसे—'रात के उर मे दिवस की चाह का शर हूँ।' या

तेरे असीम आँगन की, देखू जगमग दीवाली,
या इस निजन कोन के, बुझते दीपक को देखू,
तुझ म अम्लान हँसी है, इसम अजस्र आसू जल
तेरा वैभव देखू या जीवन का क्रदन देखू।

यह उनकी निरतर विकसित होती चेतना का प्रमाण है पर मेरा किशोर मन एक युग तक उन्ही 'मैं नीर भरी दुख की बदली' जैसी रहस्यवादी दर्दीली कविताओ म रमा रहा और मैं उन्हे हिन्दी साहित्य के इने गिने सर्जको मे मानता रहा। जब मैं पहली वार उनसे मिला तब मैंने पजाब छोडा ही छोडा था। शायद 1944 या 1945 की वात है। मैं तब तक हस, विश्वमित्र, विश्ववाणी, जनवाणी आदि पत्रिकाओ म नियमित रूप से लिखने लगा था। उन्ही दिनो इलाहाबाद जाना हुआ। जनवाणी के सम्पादक बधुवर वैजनाथ सिह विनोद स मिला तो उन्होने कहा, "चलो महादवी जी स मिल आवें।"

उन्होंने जसे मेरे मुह की बात छीनी हो। समय निश्चित करके हम महिला विद्यापीठ के भवन म पहुँचे। याद है कि हमे वाहर वरामदे म पडी कुर्सियो पर काफी देर बैठना पडा था। वे किसी आवश्यक काय मे व्यस्त

थी। जब वे आईं तो सीधे हमारे पास आकर बैठ गयी। शुभ्र श्वेत साडी, साधारण वेशभूषा पर चेहरे पर थिरकती हँसी का प्यार नही। जितनी देर बैठी रही वे खिलखिलाती ही रही और मैं उनकी ओर देखता ही रहा। कभी कभी कुछ वाक्यो का आदान प्रदान होता पर अन्तत वे भी उस मुक्त हास्य मे लय हो जाते।

वे इतना हँसती हैं इसकी कल्पना मैंने नही की थी। लेकिन मुझे यह अच्छा लगा था इसलिये और भी कि मेरे पास बातें करने का कोई निश्चित सूत्र नही था। अत्यन्त सकोची और अपने म सिमटा सिमटा। उस हँसी ने मेरी रक्षा कर ली लेकिन मन तो बडा कुतर्की है। धीरे से बोला "काव्य मे आसू जीवन मे हँसी, क्या अथ है इसका?'

मैंने कहा, ' मुझे क्या मालूम ? तुम्ही ने पूछा है तुम्ही उत्तर दो।"

वह बोला जैसे कोई रहस्य खोलता हो, "जिसके जीवन मे जितनी गहरी वेदना होती है, वह उतना ही मुक्त होकर हसता है। अपने को छिपाने का अचूक अस्त्र है यह।"

और फिर उसने उदाहरण पर उदाहरण देकर मुझे चकित कर दिया। मुझे विश्वास करना पडा कि निश्चय ही दीदी के जीवन मे कोई मर्मान्तक पीडा है। वह क्या है यह जानने का मेरे पास कोई साधन नही था। हम दोनो के बीच न वैसी अन्तरगता थी और न मुझमे इतना साहस था कि किसी के व्यक्तिगत जीवन म झांकू। और क्या झांकू!

फिर बहुत वष बीत गये। लम्बे तीस वष। खूब पढा उनको विशेषकर उनके गद्य को अतीत के चलचित्र', 'स्मृति की रेखाए', 'श्रृखला की कडियाँ, जीवन्त यात्रा विवरण मन की परतें खोलते रेखाचित्र, सुदूर आकाश मे गहरे झांकते निबन्ध और जितने मधुर उतने ही अनुभूति से आलोकित उनके भाषण इस कला म बस श्रद्धेय माखनलाल चतुर्वेदी ही उनके अग्रज थे।

उनके वैवाहिक जीवन की त्रासदी सस्थाओ को लेकर उन पर लगे अनेक प्रवादो के बारे म सुनता रहा, पढता रहा पर कभी गहरे पैठने की आवश्यकता नही अनुभव की। इतना ही मान लिया कि जीवन है तो द्वन्द्व भी है। उनसे बार-बार सभा-समारोहो म भेंट हुई, सभी औपचारिक,

पर वह प्रारम्भिक ममत्व निरन्तर बना रहा।

'आवारा मसीहा' प्रकाशित हो चुका था तब की बात है। सप्रू हाउस के किसी समारोह मे भाग लेकर हम साथ-साथ नीचे उतर रहे थे। सहसा उन्होंने मेरी ओर देखा, बोली, "विष्णु जी! आपने 'आवारा मसीहा' लिख कर एक करने योग्य काम किया है।"

मैं चकित-सा उनकी ओर देखता रह गया, "आपने पढा है 'आवारा मसीहा'?"

वे हँस आईं, "पढा है तभी तो कहती हूँ। शरत मेरे प्रिय लेखक हैं।"

यह बात उन्होंने मुझे तब भी लिखी थी जब हमने उन्हे शरत् शत वार्षिकी समारोह समिति के उपाध्यक्ष का पद स्वीकार करने की प्रार्थना की थी। मेरे पत्र के उत्तर में उन्होंने लिखा—

तिथि 10 अगस्त, 1986

भाई विष्णु प्रभाकर जी,

शुभाशिष।

आपका पत्र मुझे मिल गया था। मैंने कलकत्ते के पते पर श्री माणिक मुखोपाध्याय को स्वीकृति भी भेज दी थी। पता नही उन्हे मिली या नहीं।

दिल्ली के मैडिकल इस्टीट्यूट मे डा० आत्मप्रकाश जी ने मेरे कण्ठ की शल्य चिकित्सा की थी परन्तु अभी पूर्णत कष्ट गया नही है। इस मास के अन्त तक पुन वहा आने का विचार है। तब आपसे भेंट होगी।

शरत मेरे प्रिय कथाकार हैं। उनकी शतवार्षिकी के समारोह मे मेरा यत्किंचित जो भी सहयोग रहे मुझे प्रसन्नता ही होगी।

आशा है आप स्वस्थ प्रसन्न होंगे।

शुभेच्छुका
महादेवी

कुछ दिन बाद इलाहाबाद जाना हुआ। यदा कदा जाता रहता था। मेरी ससुराल उन दिनो वही थी। एक दिन अपने मित्र सर्वोदयी चिन्तक और लेखक श्री सुरेशराम भाई से बातें करते हुए मैंने कहा—चलो

महादेवी जी से मिल आवें। बहुत अस्वस्थ रही हैं।"

बस सुरेशराम भाई ने तुरन्त समय निश्चित किया और हम ठीक समय पर महादेवी जी के निवास पहुचे। 4 बज रहे थे, लौटे तो 6 बजने को थे। दो घण्टे तक बातें की हमने, अनन्त विस्तार था उनका अनेक व्यक्ति, अनेक विचार

उनका वह विशाल सज्जित कक्ष जिसमे हम एक चौकी के चारो ओर बैठे थे। बाहर आकर मधुर स्वर मे स्वागत किया था उन्होने। हाथो मे हाथ लेकर मुस्कराती हुई अन्दर कक्ष मे ले गई थी। दृष्टि घुमाई चारो ओर। देखता हूँ—वहा देवी सरस्वती हैं नानारूपणी काली हैं, कृष्ण भी हैं अपने चक्र अपनी बशी के साथ, तुलसी, गाधी और रवीन्द्र भी हैं, नाना कला कृतियाँ हैं इन सभी की प्रतीक हैं महादेवी पूरे द्वन्द्व पूरे समन्वय के साथ—

बीच मे कुत्ते भौंके। स्वय उठकर चुप कराने गयी। चाय और नाना प्रकार के खाद्य पदार्थ आये। स्वय काट काटकर खिलाती रही मा की तरह। यह कहना न भूली "विष्णु जी ! 'आवारा मसीहा' लिखकर स्वय भी आवारा बन गये हो।"

मूल्यो और अनीति की चर्चा चली तो बोली, "आज जो आतकवाद की लहर फैली है वह बहुत गहरी है। वह मात्र रोटी और कपडो का प्रश्न नही है।"

बातें आगे बढती गयी। सहसा किसी प्रसग मे वे बोल उठी जो नही बोलता वह बहुत बोलता है जो बहुत बोलता है वह कुछ नही बोलता।"

मैंने स्पष्ट किया "जो बहुत बोलता है वह अपनी आवाज नही सुन पाता।

वे बोली उसकी अपनी आवाज होती ही नहो। वह हिज मास्टर्स वायस होता है। इसीलिये तो मूल्यहीनता का शिकार बन गयी है नयी पीढी।"

फिर वे सुनाने लगी पुराने लोगो की बात एक रसोइया था मेरे पास। एक दिन एक लडकी प्रश्न का गलत उत्तर दे रही थी। उसने तुरन्त सही उत्तर बताया। तब पता लगा वह तो ग्रेजुएट है। कुछ लडके मजूरी के

लिए ठेकेदार के पास गये। वह हँसकर बोला, 'अपनी जुल्फें तो देखो। एक ईट उठा सकोगे?' इसलिये वह रसोइया सिर पर चुटिया रखता था जिससे पहचाना न जाये।"

बंग देश की नारियों के अपहरण की चर्चा करते-करते उन्होंने बताया कि हम एक बनर्जी परिवार की पुत्रवधू को निकालकर लाये। उन्हें लिखा, उत्तर आया—अब वह हमारे काम की नहीं रही।

तब उसको मैंने अपने पास रखा। पढाया। अन्ततः इंस्पेक्टर आफ स्कूल के पद पर काम करने लगी। तब उसके परिवार वालों ने उससे समझौता कर लिया।

मैंने कहा "दीदी! यह तो ठीक नहीं हुआ।"

बोली, "जानती हूँ पर

बाद में इस कथानक को लेकर मैंने एक कहानी लिखी। उसका अन्त मैंने समझौते में नहीं किया बल्कि जब उसका पति उससे मिलने आता है तो वह द्वार बन्द कर लेती है। कभी न खोलने के लिए।

व्यक्तियों की चर्चा शुरू हुई तो जैसे अन्त ही नहीं होगा। गांधी जी से मिलने गई तो उन्होंने पूछा 'चरखा नहीं कातती तुम?'

मैं बोली, 'मैं तो कविता करती हूँ। वह कठिन काम है। आप अपने आश्रमवासियों से पूछिये, कोई करता है कविता।'

पूछने पर पता लगा कि कविता कोई भी नहीं करता।

मैं बोली 'है न कविता करना कठिन काम बापू!'

गाधी जी ने कहा 'कविता करती हो करती रहो पर किसी को सुनाना मत।'"

और उन्होंने 1935 के बाद कभी किसी कवि सम्मेलन में कविता नहीं पढी। गाधी जी ने उन्हें विद्यापीठ की स्थापना करने की प्रेरणा दी। स्वयं उसका उदघाटन किया और जवाहर को कुलपति बना गये।

जवाहरलाल जी से उनके अन्तरंग सम्बन्ध थे। वे उन्हें बार बार दिल्ली आने का निमन्त्रण देते। कभी जाती तो इंदिरा से कहते, 'महादेवी आई हैं खीर बनाओ, हलवा बनाओ।'

सुनाते सुनाते वे बोलीं, मैंने एक बार कहा 'दिल्ली मैं कैसे आऊँ।

आपके यहाँ तो हमेशा दरबार लगा रहता है।'

वे बोले, 'दरबार ? दरबार तो तुम्हारे मैथिलीशरण के यहाँ लगता है, जहाँ लड्डू बरसते हैं।'

फिर वह खूब हसते।"

इंदिरा जी को तो उन्होंने बचपन से देखा-परखा था। बोली, "वह जवाहर के ऊपर नहीं गयी हैं। वह मोतीलाल की पोती हैं—दबंग नशंस, एकान्त प्रिय जो बात मुह से निकल गयी वह पूरी होनी होगी। वह प्रधान मन्त्री बनने के लिए नहीं थी।"

नेहरू परिवार में वे 'जवाहर' की ही प्रशंसक थी।

नेताओ के बाद साहित्यकारो की बात चल पडी। सभी प्रसिद्ध सर्जक जैसे उनके राखीबन्द भाई हो। बडे दर्द भरे स्वर मे बोली, "भइया! सभी खत्म होते जा रहे हैं। मैं स्वय सूत कातती और उसकी राखी बना कर बाँधती थी। सबसे ज्यादा आनन्द आता निराला के राखी बाँधने मे। वह उस दिन सवेरे ही तूफान मचाते। घर मे प्रवेश करते और कहते, महादेवी! दो रुपये उधार दो।'

मैं पूछती, 'क्या करोगे।'

वे कहते, 'एक रिक्शे वाले के लिए चाहिए। दूसरा तुम्हारे लिए।

पत जी कायदे के आदमी थे। सवेरे से शोर मचाना शुरू कर देते, 'कब आऊँ?'

कचौरी खाने के शौकीन थे, कहते, 'कचौरी जरूर बनाना।

मैं कहती, 'आप तो चौथाई कचौरी खायेंगे। शोर मचा दिया सवेरे से।'

वे कहते, अरे औरो को खाते तो देखूगा।'

एक बार मैं राखी बनाकर चिरगाँव ले गयी। दद्दा (मथिलीशरण) मुझे बडे भाई नन्हा के पास ले गये। उनसे कहा, य महादेवी हमारी बहन है, राखी बाँधने आई है।'

नन्हा बोले, 'हाँ हमारी एक बहन थी। वह मर गयी। वही अब फिर आई है राखी लेकर।'"

बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' की कहानी बहुत ही रोचक है। बोली, '1942 के आन्दोलन म वे पकडे नहीं गये। श्री आर० एन० देव के घर

रहकर सचालन करत थे। किसी तरह पुलिस का गन्ध लग गई। अब कहाँ जाएँ।

मैंने कहा, 'मेरे घर आ जाइये।'

व बाले, 'चलूगा घर, पहले राखी बाध।'

लेकिन यहा राखी कहा स आये। नवीन जी न तुर त अपन जनऊ से धागा तोडा, बोले, 'ले यह रही राखी।'

मैंने राखी बाँधी और व टाइ सूट पहन कर मेरे घर आये। मेरे भाई ऐसे ही आते थे। मैंन भगतन के कमर म उनकी चारपाई डलवा दी। वही स वे काम करन लगे।

एक बार दिल्ली में मैं नवीन जी के घर गई। वे थ नहीं। मैंन उनकी पत्नी सरला से पूछा, 'नवीन जी कहा हैं?'

बोली, 'मैथिलीशरण जी की मजार पर गये हैं। वहा बेसन के लड्डू मिलते हैं।'

दद्दा ने सुना तो बोले 'सरला न तो मुझे जीते जी मार दिया।'

हम खाते रहे, वे खिलाती रहीं और बातें होती रहीं। बीच-बीच मे उनकी सचिव स्थानीय गीता आती, कभी कुछ लेकर कभी कुछ कहने। सलवार कमीज पहने वह कुमाऊँनी बाला पूरी तरह समर्पित थी महादवी जी के प्रति। बडी शालीन और सुसस्कृत, मैंने पूछा, 'दीदी! कुछ अपन बारे म भी बताइये न।'

'अपने बारे म क्या बताऊ? तीन चार घण्टे सोती हूँ शुरू से ही। रात का दस बजे स लिखती हू। फिर सवेरे 5 बजे स लिखती हूँ। फिर स्नान-पूजा। बाद म विद्यापीठ म एम० ए० के चार पीरियड लेती हूँ। कबीर, बिहारी कामायनी पढाती हूँ। पर अब पहले वाली आवाज कहाँ।''

सचमुच न वह आवाज रही थी न वह मुक्त हँसी। कहने लगी, "दिल्ली आपरेशन करान गयी तो वसीयत करा गई थी। सबसे मिल कर गई थी। यह मकान पिताजी न बनवाया था 1958 म। उन्होने मेरे नाम विल कर दी थी। मैंने सस्था के नाम कर दी। पता नहीं लौटू या न लौटू। डा० आत्मप्रकाश न कहा भी, 'शायद वाणी बन्द हो जाए।'"

मैंने कहा, 'कोई डर नहीं, कलम म और शक्ति आ जायेगी। विनोबा

हैं तो मौन पर कितना बोलते हैं।"

दो क्षण बाद अचानक बोली, "इलाहाबाद में तुम्हारा कौन है?"

मैंने कहा, "मेरी ससुराल अब यहीं है दीदी।"

"अरे तब तो मजे हैं। ससुराल से बढ़कर और कोई स्थान नहीं होता।" "हरि हर सब अपनी अपनी ससुराल में रहते हैं। अब देखो," सुरेशराम भाई की ओर इशारा करके वे बोली, "इसकी ससुराल है तो दूर पर बस है यह मेरा दामाद। इसकी पत्नी को मैंने पढ़ाया है। मेरी एक पुस्तक है 'मेरा परिवार'। उसमें मैंने पशुओं के बारे में लिखा है। लोग समझते हैं मैंने अपने माँ बाप के बारे में लिखा है। पशु क्या परिवार से कम होते हैं? वे हमारी तरह बोलते नहीं पर उनकी आँखें बोलती हैं।"

उनका एक गीत है 'मधुर मधुर मेरे दीपक जल।' मानो उसी तरह हमारी बातें चलती रहीं। अन्तहीन, अटपटी, पर वैसी ही मधुर वैसी ही अन्तर को प्रकाशित करने वाली। विदा लेने उठे तो मन भर आया। बाहर तक छोड़ने आई। हाथों में हाथ लेकर थपथपाने लगीं जैसे अन्तर का स्नेह उँडेलती हों।

हम लौट रहे थे भरे भरे, ऐसे जैसे गंगास्नान करके लौट रहे हों।

उन्हीं की एक और पंक्ति है 'शेष नहीं होगी यह मेरे प्राणों की पीड़ा'। उस दिन मैंने यही अनुभव किया था कि इन संस्मरणों के पीछे एक पीड़ा है जिसे वे सार्वजनिक समारोहों में प्रगट नहीं होने देतीं। इसके बाद दिल्ली में उन्हें कई बार सुना। साहित्य अकादमी में भी आमंत्रित किया। उनके हाथों पुरस्कृत भी हुआ। उनका आशीर्वाद पाया। उनके आप्त वाक्य सुने बार-बार। वे किसी वाद धर्म वर्ग या जाति से नहीं बँधी थीं। आस्थावान जीवन मूल्यों के प्रति समर्पित, सौन्दर्य और यथार्थ समन्वय की पोषक अद्वैत और बौद्ध दर्शन से समान रूप से प्रभावित, उन्होंने ठीक ही कहा था "दीपक सोने का हो या मिट्टी का, मूल्य उसका नहीं उसकी लौ का होता है। कोई अंधेरा ऐसा नहीं अँधेरे के तरकश में कोई तीर ऐसा नहीं जो उसकी लौ को ज्वलन दे क्योंकि साहित्य जीवन के विश्वास का ऐसा साथी रहा है कि उसका अभाव बर्बरता और असभ्यता का पर्याय माना जायगा, क्योंकि एक अच्छी कविता के सामने शासक नहीं

मनुष्य रहता है। यदि मनुष्य मे सवेदनशीलता की रागात्मकता नही रहेगी तो ध्वस के कगार पर बैठी मानव जाति किसी क्षण समाप्त हो सकती है।"

यह बात नही कि उनकी सीमा नही है पर वे निरन्तर उस सीमा का अतिक्रमण करती रही हैं और भारतीय नवजागरण तथा मनुष्य की मुक्ति की पक्षधर रही हैं। वह पीडा उन्हे इसीलिए सालती थी कि उन्हे चारो ओर ह्रास दिखाई दे रहा था। न जाने कितनी अधेरी सुरगो मे से गुजर कर आजादी की किरण देखी थी उनकी पीढी ने। उसी किरण पर आक्रमण बोल दिया था फिर उन्ही अँधेरी शक्तियो ने। 25 नवबर 1986 को जब मैं अन्तिम बार उनसे मिला तो वे स्पाण्डलाइटस के कारण शिकजे मे जकडी हुई थी।

उस रात मेरे साथ मेरी सलज्ज श्रीमती उषा मागलिक थी। काफी देर राह देखनी पडी। स्वास्थ्य बहुत गिर चुका था। वे मना कर सकती थी पर अपने स्नेहिल स्वभाव के कारण उस कष्ट मे भी हमारा स्वागत किया उन्होने। वही कक्ष, वही साजसज्जा, पर इस बार वे तख्त पर बैठी थी। उठ भी नही सकती थी। पास जाकर मैंने उन्हें प्रणाम किया। अत्यन्त भावुक होकर उन्होने मेरे हाथ थाम लिये बोली, 'बडे दिनो मे आये इस बार। मैं तो बीमार बेबस इस शिकजे मे जकडी पडी हूँ, लोहा है। मैं तो इसे खुद खोल भी नही सकती।"

भले ही शिकजे न खोल सकें पर हमारे सामने अपना हृदय खोलकर बात करती रही बहुत देर तक, पर पहली जैसी प्रफुल्लता नही थी। मैं हिन्दी साहित्य सम्मेलन के अधिवेशन मे निमन्त्रित था। बोली, हिन्दी गयी। क्या होगा! हिन्दी वाले आपस मे लडते हैं। नागरी प्रचारिणी सभा मे क्या हो रहा है। कोई विचार प्रधान पत्रिका है कही आज। हमारे वक्तो मे कितनी अच्छी अच्छी पत्रिकाएँ थी।'

ददभरी यादें कौंध-कौंध जाती उनके मन मे—"क्या दिन थे हमारे! कैसे प्रेम से मिलते थे सब लोग। कितने भाइयो के राखी बाँधी हैं मैंने। कल श्री वसन्तकुमार बिडला आये थे। सूर्य मन्दिर बनवा रहे हैं। उसी की चर्चा करने आये थे। क्या होगा? आज की दुनिया कहाँ जा रही है? यथार्थ के पीछे आदर्श भूल गया है सब। मैं कहती हूँ एक यथार्थ खो गया

तो दूसरा मिल जायेगा पर आदश तो फिर नही मिलेगा।"

व्यक्तियो के बारे मे इस बार बहुत कम चर्चा हुई। जैनेन्द्र जी पक्षाघात से पीडत हैं, इससे वे बहुत व्यथित थी। इन्दिरा जी के बारे मे इतना ही कहा कि अपनी माँ को बहुत प्यार करती थी, लेकिन फिरोज गाधी के बार म कहत कहते वे भावुक हो उठी। बोली, "फिरोज बहुत भला था, लेकिन उसके मन के भीतर यह दद निश्चय ही था कि वह इनके जितना बडा नही है। जब उसकी मृत्यु हुई, इन्दिरा उसके पास नही थी। शाम को आई।

जवाहर की तरह मुझे लिखती रहती थी, कब आ रही हो?' मैं उत्तर देती 'आपके घर क्या आऊँ, तलाशी होती है।'"

उन्हे बोलने मे कष्ट होता था। मैं अधिक समय नही लेना चाहता था। डा० रामजी पाण्डे भी कुछ देर के लिए हमारी बातो मे शामिल हो गये थे। मेरी सलज से भी बातें कीं। उन्होने कहा, 'तुम तो यही हो, आना कभी।"

और स्वागत-सत्कार आवाज दे देकर गीता से न जाने क्या क्या मँगवा लिया नाना रूप फल मिष्टान्नन नमकीन। खुद काटकर देती रहीं सेब, अमरूद, चीकू। यह खाओ, वह खाओ। माँ जसे अपने बच्चो को खिलाती है प्यार मनुहार से। जो कुछ वे कह रही थी उसम उनका कण्ठ नही हृदय बोल रहा था।

मैंन विदा लेनी चाही, बोली "मैं तो उठ नहीं सकती, यही से आशीर्वाद देती हूँ खुश रहो। फिर आना पर पता नही मैं रहूँ या न रहूँ।'

मैं जानता था यह अन्तिम भेंट है फिर भी कहा, "नही, नही मैं आऊगा, बहुत सी बातें करनी हैं आपसे।'

अँधेरा बढ रहा था। हम लौट चले। किस-किस के पास से लौटा मन मे ऐसी पीडा सजोता। इस बार भी उनके देहावसान का समाचार ही मिला। उनके जीवन की लौ बुझ गयी पर साहित्य और संस्कृति के दीप मे जो लौ वे प्रज्वलित कर गयी हैं कोई अँधेरा ऐसा नही, अँधेरे के तरकश म कोई तीर ऐसा नही जो उसको जलने स रोक सके। वह जलती रहेगी यह कहती हुई—

'रात के उर म दिवस की चाह का शर हू।'

□□

विष्णु प्रभाकर

आवारा मसीहा के कृती कथाकार नाटककार, निबन्धकार श्री विष्णु प्रभाकर किसी परिचय के मुहताज नहीं हैं। 21 जून, 1912 को मुजफ्फर नगर के एक कस्बे, मीरापुर म जन्म, विष्णु जी की पहली रचना 1931 म प्रकाशित हुई। उसके बाद से आप लगातार साहित्य सजन म सक्रिय रहे हैं और अब तक विभिन्न विधाओं म अनेक महत्त्वपूण कृतिया का सृजन किया है।

आवारा मसीहा के अतिरिक्त आपने कई उपन्यास सैकडा कहानियाँ, नाटक रेडियो-एकाकी आदि भी लिखे ह। इनके अतिरिक्त आपने हिन्दी के सस्मरण और यात्रा साहित्य में भी महत्त्वपूण योगदान किया है।